जैन भारती

सितम्बर 2013 • वर्ष 61 • अंक 9 • वार्षिक रु. 200.00

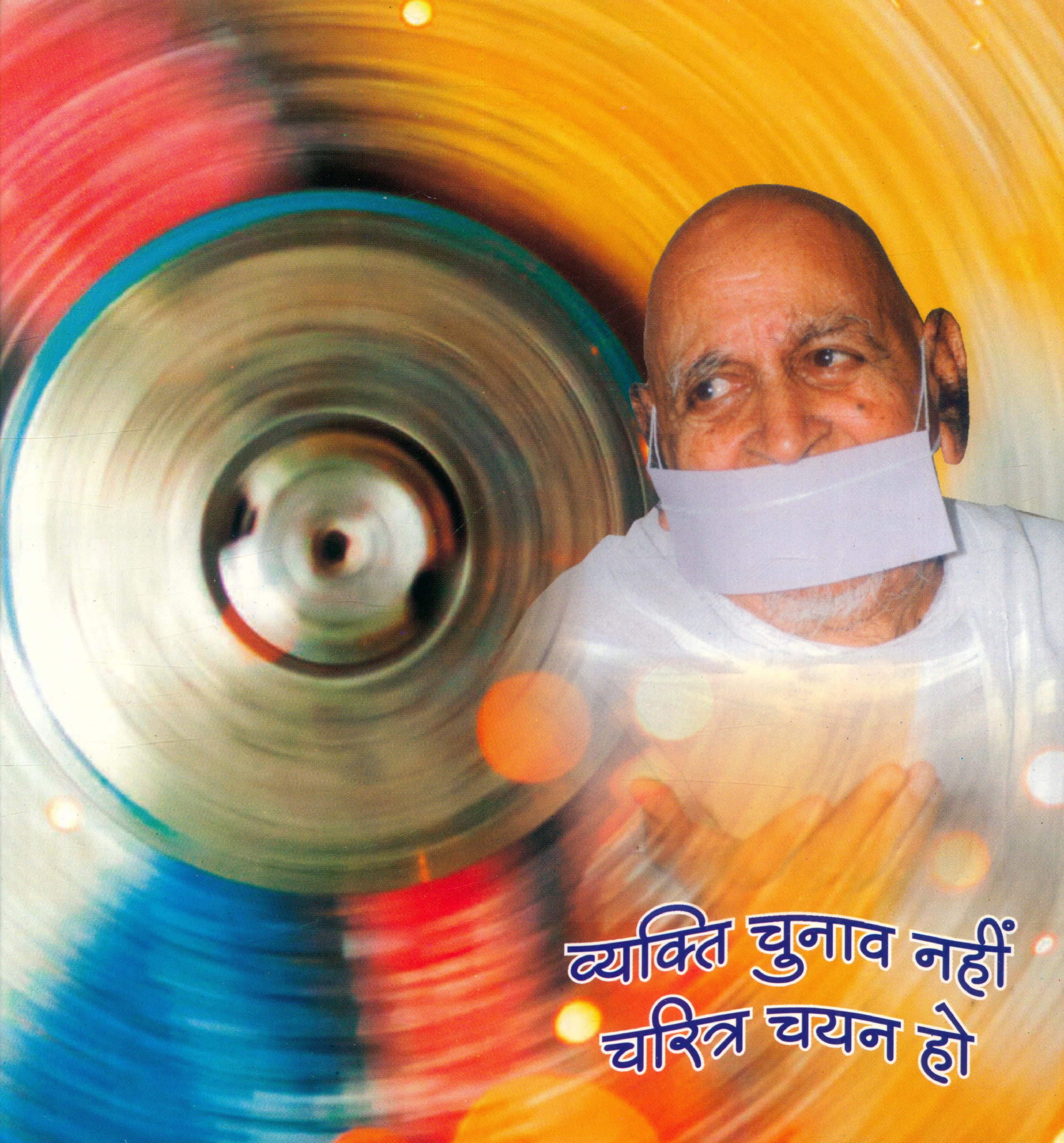

In Memory of

Late Sh. Sohan Lal Kataria

Wife Smt. Sunderbai

Son Manubhai, Praveenkumar, Janak, Yogesh

Vimal, Vikash, Vinay, Vishal, Gouraw, Chirag

Manav, Yash Kataria

Banglore, Mysore, Bemali (Raj.)

MD : VIMAL KATARIA (JAIN)
MD : MADHU KATARIA (JAIN)

VAISHNODEVI LUSH GREENS PRIVATE LIMITED

No. 13, Muthachari Industrial Estate, Nayandhalli
Mysore Road, Bangalore 560 039
e-mail : info@vaishnodeviproperty.com
Phone : 080-23146429, Mobile : 96207 99999

जैन भारती

वर्ष 61 • सितम्बर, 2013 • अंक 9

सम्पादक
डॉ. शान्ता जैन

अनुक्रम

1.	आचार्य भिक्षु प्रेरणा पाथेय		4
2.	संपादकीय		5
3.	आत्मा के आस-पास	–आचार्य तुलसी	7
4.	कैसा था वह युग?	–आचार्य महाप्रज्ञ	11
5.	धर्मसंघ के नाम खुला आह्वान	–आचार्य तुलसी	15
6.	अधिवेशन महासभा का दर्पण भविष्य का	–	29
7.	धर्म की समस्या धार्मिक का खंडित व्यक्तित्व	–आचार्य महाप्रज्ञ	33
8.	कार्यकर्ता के मौलिक गुण	–आचार्य महाश्रमण	37
9.	महिला विकास के पायदान	–साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा	41
10.	धर्म का धंधा	–प्रोफेसर सागरमल जैन	44
11.	चुनाव व्यक्ति का नहीं, चरित्र का हो	–कन्हैयालाल छाजेड़	45
12.	ऐसे ही चलने दें पर आखिर क्यों?	–पदमचंद पटावरी	48
13.	चेतना के ऊर्ध्वारोहण का पर्व : संवत्सरी पर्व	–साध्वी कनकरेखा	50
14.	मैत्री भाव से सुलझते हैं विवाद	–मुमुक्षु शांता जैन	53
15.	तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा		55

आवरण
गौरीशंकर

संपादकीय सम्पर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306, मो. 09413889617

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए

आचार्य भिक्षु प्रेरणा पाथेय

धर्म आराधना है। वह स्वतंत्र मन से होती है। मन की स्वतंत्रता का अर्थ है-वह बाहरी बंधन से मुक्त हो और अपनी सहज मर्यादा में बंधा हुआ हो। कानून बाहरी बंधन है। धार्मिक नियम कानून नहीं हैं। वे मनवाए जाते हैं। धर्म की आराधना करने वाले उन्हें स्वयं अंगीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ-संघ को संगठित किया। उसकी सुव्यवस्था के लिए अनेक मर्यादाएं निर्धारित कीं। जब उन्होंने विशेष मर्यादाएं बनानी चाहीं तब साधु-साध्वियों को पूछा। उन्होंने भी यह इच्छा प्रकट की कि ये होनी चाहिए। फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि मर्यादाओं के निर्माण में सूझ आचार्य भिक्षु की थी और सहमति सबकी। मर्यादा किसी के द्वारा किसी पर थोपी नहीं गई, बल्कि सबने उसे स्वयं अपनाया।

आचार्य भिक्षु सूझ-बूझ के धनी थे। उन्होंने व्यवस्था के लिए अनेक बातें सुझाईं, वे मर्यादा के कर्ता कहलाए, पर धर्म-शासन की दृष्टि से मर्यादा की सृष्टि उन सबसे हुई है जिन्होंने उसे अंगीकार किया। धर्म वैयक्तिक ही होता है, किंतु जब उसकी सामूहिक आराधना की जाती है तब वह शासन का रूप ले लेता है।

आचार्य संघ के लिए मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। वे थोपी नहीं जातीं। थोपी हुई हों तो संभव है, हिंसा हो जाए। बलपूर्वक कुछ भी मनवाना अहिंसा नहीं हो सकता। धर्म-शासन की मर्यादाओं को अहिंसा की भाषा में मार्गदर्शन ही कहना चाहिए। साधनाशील मुनि साधना के पथ में निर्विघ्न भाव से चलना चाहते हैं। निर्विघ्नता अपने आप नहीं आती। उसके लिए वे आचार्य का मार्ग-दर्शन चाहते हैं। आचार्य उन्हें अमुक-अमुक प्रकार से आत्मनियंत्रण के निर्देश देते हैं। वे ही मर्यादा बन जाती हैं।

मर्यादा का मूल्य साधक के विवेक पर निर्भर होता है। साधक का मनोभाव साधना की ओर झुका हुआ होता है, तब वह स्वयं नियंत्रण चाहता है। मर्यादाएं मूल्यवान बन जाती हैं। साधक साधना से भटकता है तब मर्यादाओं का मूल्य घट जाता है। आत्मानुशासन की मर्यादा का अवमूल्यन होता देख अल्पविकसित साधकों के लिए कभी-कभी आचार्य को बाहरी नियंत्रण भी करना पड़ता है। यह करना चाहिए या नहीं, यह अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय है, किंतु संघीय जीवन में ऐसा हो ही जाता है। बाहरी नियंत्रण पर आधारित मर्यादाएं संघ के लिए आवश्यक होती होंगी, किंतु साधना की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। साधना की दृष्टि से मूल्यवान मर्यादाएं वे ही हैं, जो आत्मानुशासन से उपजी हों।

बदलाव की शुरुआत स्वयं से

आचार्यश्री महाश्रमण ने आचार्य तुलसी जन्म-शताब्दी वर्ष को लक्ष्य बनाकर व्रती चेतना के जागरण का एक महायज्ञ शुरू किया है। मैं सोचती हूं कि इससे बड़ा और कोई उपहार/उपक्रम नहीं हो सकता गुरु की अभिवंदना में।

हम कृतसंकल्पी बनें कि इस वर्ष से अव्रत की सीमाएं शुरू करेंगे। भोगवाद और सुविधावाद के प्रति आसक्त मन को संयम का कवच पहनाएंगे। बुराइयों का प्रवेश रोकेंगे, अच्छाइयों का सम्मान करेंगे। यह जागरूक पहरेदारी निश्चित रूप से हमारे संस्कारों और संस्कृति की सुरक्षा करेगी, और हमारी शुरुआत गुरु-चरणों में श्रद्धा समर्पण का पहला चरण बनेगी।

हम दावा तो नहीं कर सकते कि एक वर्ष में पूरा समाज और हम बदल जाएंगे। मगर हम इस विश्वास को रोशनी दे सकते हैं कि गुरुदेवश्री की जन्म-शताब्दी के प्रथम दिवस के मौके पर सूरज की किरण के आंगन में उतरने के साथ ही जीवन में बदलाव की प्रक्रिया अवश्य प्रारंभ कर देंगे। यह वर्ष पूरे समाज के लिए संपूर्ण जागरूकता के साथ आत्मसाक्षी से चिंतन-मंथन का है। इस वर्ष हम गर्व से कह सकें कि—

- अब हमारे समाज में बहू-बेटियां त्रासदी और शोषण से मुक्त हैं।
- समाज में वृद्ध-बुजुर्ग अपने परिवार में अपनों के साथ चित्तसमाधि में जी रहे हैं।
- दहेज, तलाक, भ्रूणहत्या जैसे दंश से हमारा समाज, घर-परिवार मुक्त हो चुके हैं।
- समाज की बालपीढ़ी शिक्षा के साथ धार्मिक संस्कारों की टकसाल में अच्छे मानव के रूप में ढल रही है।
- युवापीढ़ी फैलती विदेशी संस्कृति की विकृतियों पर लक्ष्मण रेखा लगाकर स्वस्थ समाज की संरचना में आगे आ रही है।
- उत्सव के नाम पर फिर चाहे वो जन्मदिन हो अथवा शादी की पचीसवीं या फिर पचासवीं सालगिरह, हर उत्सव पर पैसे का प्रदर्शन और अनावश्यक अपव्यय करने से स्वयं को बचाएंगे। ऐसा कुछ होने नहीं देंगे, जिस पर लोग अंगुली उठाएं।

सन् 1913-14 का वर्ष हमारे लिए चिंतन का गवाक्ष खोल रहा है। हम अतीत, वर्तमान और भविष्य की समीक्षा करें। जिस महापुरुष की जन्म-शताब्दी मना रहे हैं, उसने हमारे लिए कितना कुछ किया! जीवनभर हमें अर्थशून्य रूढियों से, परंपराओं से, रीतिरिवाजों के शिकंजे से मुक्त होने में, व्यसनमुक्त समाज की संरचना करने में, युवापीढ़ी को ऊर्जाशील और जीवनमूल्यों को जीने का प्रशिक्षण देने में अपने अमूल्य समय का उपयोग किया, प्रेरणा पाथेय दिया।

आज उन सबकी कीमत चुकाने का और उऋण होने का समय आ गया है। हम ईमानदारी से खुद को खुद के आईने के सामने खड़ा करें, आत्मसाक्षी से देखें हमने सही दिशा में कितने

कदम उठाएं हैं? हमारे समाज की सोच क्या है? अंधाधुंध प्रतिस्पर्धा में उलझकर हमने सांस्कृतिक मूल्यों को कहीं बदसूरत तो नहीं बना दिया? यद्यपि शिक्षा के नाम पर पुरुष हो या महिला—सभी ने विकास का प्रशस्य सफर तय किया है मगर दिशा कितनी सही रही, इसका अनुचिंतन भी करना है।

परंपराओं की दिशा बदली, पर यह बदलाव आचार्य तुलसी की चाहत से कितना मेल खाता है? उनके सपनों को हमने कितना पूरा किया? कहीं ऐसा न हो जाए कि हम इस भ्रम में जीते रहें कि उनके नाम से बड़े-बड़े आयोजनों को शुरू करके हमने अपना दायित्व निभा दिया, पर जब समीक्षा का अवसर आया तब कहीं ऐसा न लगे कि वास्तविक उपलब्धियों का ग्राफ तो बहुत छोटा पड़ गया।

हम औरों का छिद्रान्वेषण न करें। औरों में विशेषताएं देखने की आदत बनाएं। खुले दिल से किसी के द्वारा की गई अच्छाइयों को सम्मान दें। हम इस सूत्र को अपनी साधना का मंत्र बनाएं कि औरों की गलतियों को मत चुनो, अन्यथा वो तुम्हें चुनना भूल जाएंगे।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हम कार्यकर्ताओं का सम्मान करना भी सीखें। आचार्य तुलसी की नजरों में एक श्रावक कार्यकर्ता की हैसियत बहुत ज्यादा थी। उनकी सोच थी कि जिस समाज में उभरती प्रतिभाओं का और तेजस्वी व्यक्तित्वों का मूल्यांकन समय-समय पर होता रहता है, वह समाज उदीयमान पीढ़ियां तैयार करता है।

हम सभी कार्यकर्ताओं का सम्मान करें। अनेक अच्छाइयों के बीच एक बुराई प्रश्नचिह्न न बने, बल्कि बुराई को सुधारने का मौका देना भी साधर्मिक वात्सल्य है। एक कमी के कारण अन्य गुणात्मक विशेषताओं को पर्दे के पीछे धकेल देना हमारी सोच न बने। हमें इस सोच को भी जमीं देना है कि सभा-संस्थाओं में सत्ता-परिवर्तन के बाद जो अच्छा है, उसका योगक्षेम करें। जो ठीक नहीं लग रहा है उसमें कुछ जोड़ें, कुछ हटाएं, बिना किसी आलोचना के। अन्यथा जिगजेक की तरह समय बीत जाएगा सिर्फ योजना बनाने में। हमें इस बात को याद रखना होगा कि केवल पैसा ही प्रतिष्ठा नहीं देता, अपितु पद और दायित्व के प्रति संपूर्ण निष्ठा, श्रद्धा, पुरुषार्थ, ईमानदारी और पारस्परिक एकता भी यशस्वी दायित्व परंपरा को अक्षुण्ण बना सकती है।

हमें तो इस बात का गर्व और गौरव होना चाहिए कि हम उस तेरापंथ धर्मसंघ के सदस्य हैं, जहां राजनीति की तरह अनुशासन की सीमाएं नहीं लांघी जाती। कुर्सी के लिए छिनाझपटी नहीं होती। अपने स्वार्थों की सिद्धि में अमानवीय खेल नहीं खेला जाता। इस शासन में तो अनुशासन, मर्यादा, संयम, संतुलन, सहिष्णुता जैसे जीवन-मूल्यों का ऐसा सुरक्षा कवच है जो हर गर्म हवा से सबको बचाता है। यहां न पक्षपात है और न गलत को प्रोत्साहन, न गलत को छुपाया जाता है। जो भी विकास होता है सबका श्रेय सबको बांटा जाता है। यहां का संदेश है—सभा-संस्थाओं के पदाधिकारी आपसी विश्वास और पारस्परिक सहयोग के साथ गतिशील बनें। मतभेद होना स्वाभाविक है, पर मनभेद न जनमे। कोई किसी का अहित न सोचे। हर शुरुआत के साथ संस्था का विकास हो, क्योंकि यहां का सबसे बड़ा आदर्श है कि पद के लिए उम्मीदवार न बनें बल्कि पद की अर्हता पाएं—यह कार्यकर्ता के निर्माण का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

देश की स्वतंत्रता पाना हमारा सपना था। हमारे भीतर एक जज्बा था—करेंगे या मरेंगे। आज हमारे अंदर भी उसी जज्बे की जरूरत है जो कहे—शरीर छोड़ देंगे मगर धर्मशासन को नहीं छोड़ेंगे। हम हमारे संघ की विशेषताएं जानें, इसके विधि-विधानों की, चर्या की मीमांसा करें, जानकारी लें तब आपको लगेगा विश्व में एक महानतम संघ कोई है तो हमारा धर्मसंघ है, तेरापंथ धर्मसंघ है।

—मुमुक्षु शान्ता

आत्मा के आस-पास

आचार्य तुलसी

गतांक से आगे...

आश्रव और संवर

44. **द्वार खुला है, पवन भी आ सकती है धूल।**
युगल-कषाय प्रवृत्ति का, यही बंध का मूल।।

द्वार खुला रहता है तो मकान में हवा का प्रवेश होता है। हवा भीतर आती है तो उसके साथ धूल भी आ सकती है। मनुष्य प्रवृत्ति करता है, उसके पीछे दो कषाय–राग और द्वेष काम करते हैं। राग-द्वेष की उपस्थिति में कर्मबंधन की अनिवार्यता है।

45. **द्वार बंद है सघनतम, रज का नहीं प्रवेश।**
संवर का सिद्धांत यह, शांत सकल आवेश।।

मकान के दरवाजों को सघनता से बंद कर लिया जाए तो भीतर रजकणों का प्रवेश नहीं होता। यह संवर का सिद्धांत है। आश्रव-प्रवृत्ति के निरोध का नाम संवर है। संवर की साधना कर्म-निरोध की साधना है। कर्म का बंधन अविरति और प्रवृत्ति सापेक्ष है। इनके उपरत होने पर सब प्रकार के आवेश सहज रूप में शांत हो जाते हैं।

46. **आश्रव भव का हेतु है, संवर मोक्ष-निदान।**
आर्हत मत की दृष्टि यह, यही धर्म-विज्ञान।।

आश्रव संसार में परिभ्रमण का हेतु है और संवर मोक्ष का हेतु है। यह आर्हत् मत-जिनशासन की दृष्टि है और यही धर्म का विज्ञान है। इस सिद्धांत की पुष्टि निम्न निर्दिष्ट पद्य से होती है—

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।

47. **संवर शुद्ध स्वरूप को, पाने का सोपान।**
सहयोगी है निर्जरा, तपःपूत प्रणिधान।।

संवर आत्म के शुद्ध स्वरूप को पाने का सोपान है। जब तक इस सोपान पर आरोहण नहीं होता, स्वरूपोपलब्धि असंभव है। निर्जरा स्वरूप की प्राप्ति में सहायक तत्त्व है। तपःपूत चैतसिक निर्मलता का नाम निर्जरा है। संवर और निर्जरा—दोनों के योग से ऊर्ध्वारोहण होता है।

ज्ञाता-द्रष्टा भाव

48. **अज्ञानी जन भोगता, घटना को दिन रात।**
ज्ञानी केवल जानता, घटना को साक्षात।।

जीवन में कोई भी घटना होती है, अज्ञानी उसको दिन-रात भोगता है। घटना हो या पदार्थ, उसे भोगनेवाला भोक्ता कहलाता है। ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में भी घटना घटित होती रहती है। वह उसे साक्षात जानता-देखता है, पर उससे प्रभावित नहीं होता। वह ज्ञाता-द्रष्टा है, पर भोक्ता नहीं है। अध्यात्म का उद्देश्य है भोक्ता को ज्ञाता-द्रष्टा बनाना। यह अज्ञानी से ज्ञानी बनने की यात्रा है।

49. **पार्थिव होना था जिसे, बना प्रमादी दीन।**
जागरूक बनकर अपर, सिंहासन-आसीन।।

जिस व्यक्ति की हस्तरेखा में राजा बनने का योग था, वह अपने प्रमाद से दरिद्र रह गया। जिस व्यक्ति के भाग्य में दरिद्र होने का योग था, वह अपनी जागरूकता एवं पुरुषार्थ से राजा बनकर सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। दो भाई थे। उन्होंने किसी ज्योतिषी को अपना-अपना हाथ दिखाया। ज्योतिषी ने एक भाई से कहा कि वह राजा बनेगा और दूसरे को बताया कि वह दरिद्र रहेगा।

छह महीने बाद देश का राजा दिवंगत हुआ। वह निःसंतान था। राज्य की परंपरा के अनुसार हथिनी को सजाकर घुमाया गया। उसने दरिद्रता के योगवाले के गले में वरमाला डाल दी। वह राजा बन गया। दूसरा भाई दीन-हीन बनकर रह गया।

राजा ने ज्योतिषी को बुलाकर कहा—'पंडितजी! आपकी भविष्यवाणी गलत कैसे हुई?' ज्योतिषी बोला—'राजन! मैंने आपकी हस्तरेखाओं के आधार पर भविष्यवाणी की थी। छह महीनों में रेखाएं बदल गईं तो भाग्य भी बदल गया। आपके भाई को राजा बनने की संभावना से अहंकार आ गया। उसने गलत रास्ता लेकर अपने सौभाग्य को खो दिया। इधर आपने अपने अंधकारमय भविष्य को बदलने के लिए सत्संकल्प और पुरुषार्थ किया। फलस्वरूप आप देश के मालिक हो गए।'

50. **जागरूकता से प्रवर, होता रुचि-निर्माण।**
रुचि ही कार्य कलाप को करती है सप्राण।।

जागरूकता से श्रेष्ठ रुचि का निर्माण होता है और श्रेष्ठ रुचि से जागरूकता बढ़ती है तथा कार्यों में प्राणवत्ता आ जाती है। जागरूकता और रुचि— ये दोनों एक दृष्टि से पर्यायवाची हैं। जिस व्यक्ति की रुचि परिष्कृत होती है, उसकी जागरूकता सहज ही बढ़ जाती है। जो व्यक्ति जागरूक होता है, वह अपनी जिंदगी को परिष्कृत कर लेता है।

51. **अंतरंग रुचि भिन्न है, बाहर की रुचि भिन्न।**
परिवर्तन होता नहीं, रहता मानव खिन्न।।

मनुष्य की अंतरंग अलग प्रकार की हो तथा बाह्य रुचि अलग प्रकार की हो तो प्रयत्न करने पर भी परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रयत्न हो और सफलता न मिले तो मन भी खिन्न हो जाता है।

अंतरंग रुचि क्षायोपशमिक भाव है। स्वभाव-परिवर्तन या दिशा-परिवर्तन की बात यहीं घटित हो पाती है। बहिरंग रुचि कृत्रिम होती है। उसके साथ क्षयोपशम का योग नहीं रहता। इसलिए वहां परिवर्तन की संभावना भी कम रहती है, पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अंतरंग रुचि के बिना संस्कार बदल ही नहीं सकते। अभ्यास के द्वारा बहिरंग रुचि को अंतरंग बनाकर संस्कारों का परिमार्जन किया जा सकता है।

संतुलन कर्म और अकर्म का

52. क्रिया अक्रिया का युगल, जीवन का चिर सत्य।
वही क्रिया है सत् क्रिया, जहां अक्रिया तथ्य।।

जीवन के कुछ शाश्वत सत्य होते हैं। उनमें एक सत्य है क्रिया और अक्रिया का योग, प्रवृत्ति और निवृत्ति का योग। वही क्रिया सत् बनती है, जिसके साथ अक्रिया जुड़ी रहती है।

कर्म का अपना महत्त्व है, किंतु अकर्म का मर्म समझे बिना कर्म अच्छा नहीं हो सकता। अकर्म को समझने से ही कर्म में पवित्रता आ सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अक्रिया के साथ क्रिया सत् बनती है। निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति सत् बनती है। निष्कर्ष की भाषा यह है कि निवृत्ति के साथ ही योग शुभ बनते हैं।

53. मौन और वक्तव्यता, है वाणी का सार।
निर्विचार सविचार से, खुलता मन का द्वार।।

वाणी का सार केवल बोलना ही नहीं है। बोलना और मौन—दोनों का समन्वय वाणी का सार है। मौन से निर्विचारता आती है और बोलने से सविचारता बढ़ती है। मन का द्वार खोलने के लिए ये दोनों आवश्यक हैं।

मौन निर्विचारता की दिशा में प्रस्थान है और वक्तव्यता का संबंध सविचारता के साथ है। निर्विचार मौन के अभाव में सविचार वाणी की पवित्रता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है। यह अक्रिया और क्रिया के समन्वय का उदाहरण है।

54. जीवन-रथ आहार से, चलता यह आभास।
अनाहार के योग से, सफल हो रहा ग्रास।।

जीवन का रथ आहार के आधार पर चलता है, ऐसा प्रतीत होता है, किंतु आहार के साथ अनाहार का योग होने से ही भोजन की सार्थकता है, उसे जीवनदायी बनाया जा सकता है।

मनुष्य जीवित रहने के लिए भोजन करता है, पर उसमें संयम का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यदि खाने का संयम न हो तो व्यक्ति दीर्घजीवी नहीं हो सकता। दीर्घजीवन के लिए आहार और अनाहार में संतुलन बिठाना आवश्यक है।

55. जीवन का रथ श्वास से, चलता यह अभ्यास।
सहज श्वास-संयम चले, तभी नया उल्लास।।

जीवन का रथ श्वास के आधार पर गतिशील रहता है, यह एक आम धारणा है, किंतु श्वास का संयम करने से जिस उल्लास का अनुभव होता है, वह सर्वथा अपूर्व होता है।

जीवन के लिए श्वास जरूरी है, इसमें कोई दो मत नहीं है, पर श्वास जितना जरूरी है, श्वास-संयम भी उतना ही जरूरी है। हर व्यक्ति जाने-अनजाने श्वास-संयम करता है, क्योंकि हृदय की गति निरंतर नहीं होता। आठ सैकंड गति करने के बाद एक बार हृदय बंद होता है। लक्ष्यपूर्वक श्वास-संयम का अभ्यास किया जाए तो व्यक्ति पूर्ण आयु भोग सकता है। अन्यथा आयुष्य कम हो जाता है। प्रेक्षाध्यान पद्धति के अनुसार दो श्वासों के संगम का संधिकाल को देखना ही श्वास-संयम है। क्रमशः...

हमें इस बात का गौरव है कि
हम उस संघ की जमीं पर जन्मे हैं,
जहां विकास एक परंपरा है।
जहां शरीर का मन का अनुशासन है।
जहां महत्त्वाकांक्षा का संयमन है।
जहां आत्मविशोधि जीवन का परम लक्ष्य है।
जहां भाग्य से ज्यादा पुरुषार्थ पर ध्यान दिया जाता है।
जहां विशेषताओं का सही मूल्यांकन होता है।
जहां औरों की छोटी-सी सफलता उत्सव बनती है।
जहां भूलों की अवज्ञा नहीं होती बल्कि
सुधारने का पूरा मौका दिया जाता है।
हम ऐसे धर्मसंघ को शत-शत प्रणाम करते हैं।

कैसा था वह युग ?

आचार्य महाप्रज्ञ

पहला कालखंड पूरा हुआ, दूसरा कालखंड आया। जो मिट्टी की मिठास थी, वह भी कुछ कम हो गई, पानी की मिठास भी कम हो गई और पोषक तत्त्वों की शक्ति भी कम हो गई। तीसरा कालखंड आया तो दोनों में और कमी आ गई। जैसे पोषक तत्त्व की कमी आई, वैसे भोजन करने की अवधि में भी कमी आ गई। जहां पहले अर में चौथे दिन भोजन करते थे, वहां दूसरे अर में तीसरे दिन और तीसरे अर में दूसरे दिन भोजन करने लग गये। एकांतर हो गया। सहज वर्षीतप हो गया।

तीसरा अर काफी बीत गया। यौगलिक जीवन चल रहा था। उस समय युगल, पति-पत्नी साथ ही जन्मते, साथ ही रहते और साथ ही मरते। पूरा परिवार नियोजन। एक ही जोड़ा जन्मता। तीसरा कोई होता ही नहीं। सामाजिक संबंध भी इतने सीमित थे कि उस समय कोई चाचा नहीं था, कोई भाई नहीं था। कोई भुआ-भतीजी नहीं थी। केवल एक भाई-बहिन का जोड़ा। वही पति-पत्नी हो जाता। वही युगल जीवन के संध्याकाल में एक युगल को जन्म देकर दिवंगत हो जाता।

सहज जीवन, मरण भी है,
सहज चित्त-समाधि से।
कभी कोई नहीं मरता,
आधि व्याधि उपाधि से।।
युगल को दे जन्म कुछ ही,
मास जीते, यह प्रथा।
मौन से अभिव्यक्त होती,
युगल जीवन की कथा।।

व्यवस्थाएं कितनी बदलती रहती हैं। आज तो इस व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। उस समय की व्यवस्था थी—न कोई विवाह होता, न कोई सगाई होती, न कोई संबंध होता, न कोई परिवार का विस्तार होता। एक सहज सरल जीवन, स्वाभाविक जीवन जीया जाता था। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में उस जीवन का बहुत सुंदर चित्र खींचा गया है।

एक दिन एक युगल जा रहा था। सामने से एक हाथी आया। हाथी ने उस युगल को देखा। हाथी के पूरे शरीर से स्नेह टपकने लग गया। इतना स्नेहिल बन गया, विनीत की तरह सामने आकर हाथी झुका, सूंड उस युगल के सामने कर दी, सूंड से उस युगल को उठाया और अपने ऊपर चढ़ा लिया। वह युगल चढ़ना नहीं चाहता था। वह तो ऐसे ही जा रहा था। हाथी ने उसको चढ़ा लिया, अपनी पीठ पर बिठा लिया। उस समय हाथी के मन में भी और उस युगल के मन में भी स्नेह का ज्वार उमड़ आया।

चार दंत वाला हिमगिरि सा,
श्वेत समुन्नत गज आया।
युगल पुरुष को अपने कर से,
उठा शीर्ष पर बिठलाया।।

यह एक बड़ा विमर्श का विषय है कि हाथी के मन में स्नेह क्यों पैदा हुआ? उस युगल के मन में स्नेह क्यों पैदा हुआ? इसका समाधान हम पूर्वजन्म में खोज पायेंगे। सब संबंधों, स्नेहों और परिणामों की वर्तमान जीवन से व्याख्या नहीं की जा सकती। कुछ व्याख्याओं के लिए अतीत में लौटना होता है, पूर्वजन्म से संपर्क स्थापित करना होता है। पूर्वजन्म में जाकर ही उस संबंध-सूत्र को खोजा जा सकता है।

पूर्वजन्म में हाथी अशोकदत्त नाम का व्यक्ति था। युगल का पुरुष और वह—दोनों मित्र थे, संबंधी थे। बहुत गहरा संबंध था दोनों में। अशोकदत्त ने बहुत मायाचार किया। मायाचार का परिणाम यह हुआ कि वह मरकर हाथी बन गया। दूसरा व्यक्ति सरलता से जीवन जीता रहा। वह मरकर यहां मनुष्य बन गया। एक हाथी बना, *एक मनुष्य बना।*

स्थानांग सूत्र में तिर्यंच गति में पैदां होने के चार कारण बतलाए हैं। उनमें एक कारण है छलना, प्रवंचना। यह मनुष्य से पशु योनि में जाने का एक कारण बनता है। अगर हम पूर्वजन्म की मीमांसा करें कि कौन व्यक्ति किस गति में था और मरने के बाद किस गति में आया है तो शायद मनुष्य की आंख खुल जाए।

जैन दर्शन का आचारशास्त्र केवल वर्तमान की नीति पर आधारित आचार-शास्त्र नहीं है। वह अतीत का जन्म, वर्तमान का जन्म और आगे होनेवाला जन्म—इन तीनों जन्मों पर आधारित आचारशास्त्र है। किस प्रकार के आचरण से कोई मनुष्य पशु योनि में चला जाता है, पक्षी योनि में चला जाता है। किंस प्रकार के आचरण से मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य हो जाता है। किस प्रकार के आचरण से मनुष्य देवगति या मोक्ष में जा सकता है। पूरा आचारशास्त्र अपने आचरण, व्यवहार और कर्म से जुड़ा हुआ है। अशोकदत्त ने मायाचार किया था इसलिए यहां हाथी बन गया, किंतु वह स्नेह का संबंध जुड़ा रहा।

हमारा स्थूल शरीर तो मृत्यु के समय छूट जाता है, किंतु सूक्ष्म शरीर कभी छूटता नहीं है। सूक्ष्म शरीर में कर्म के संस्कार, रागात्मक-द्वेषात्मक संस्कार भी संचित रहते हैं। इस पर आचार्य भिक्षु ने बहुत सुंदर दर्शन दिया था। उनसे पूछा गया—कोई किसी का सहयोग करता है तो क्या धर्म नहीं होता?

उन्होंने कहा—आत्मधर्म नहीं होता, क्योंकि यह लौकिक धर्म है, आत्मधर्म नहीं है। फिर पूछा—उसका कोई फल नहीं होता? उन्होंने कहा—फल क्यों नहीं होता? व्यावहारिक फल तो है और वह होता है। आचार्य भिक्षु का एक पद्य है—

'शत्रु से शत्रुपणो चालियो जावै,
मित्र स्यूं मित्रपणो चालै।'

एक व्यक्ति ने किसी के साथ शत्रुता का व्यवहार किया, हानि पहुंचाई, चोट पहुंचाई, उसका नुकसान किया। वह संबंध आगे भी चलता है। उस व्यक्ति को देखते ही आंखों में लाल डोरे पड़ जाते हैं, द्वेष जाग *जाता है। द्वेष है तो पहले जन्म का, किंतु उस समय में* द्वेष प्रकट हो जाता है। कोई पहले जन्म का मित्र रहा, उसके साथ मित्रता का संबंध किया और अकस्मात् ही मिलता है तो प्रथम दर्शन में ही उसके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। यह प्रथम दर्शन में आकर्षण कैसे पैदा हुआ? कभी पहले मिला नहीं फिर आकर्षण कैसे पैदा हुआ? उसका कारण पूर्वजन्म का रागात्मक संस्कार है।

आचार्य भिक्षु ने ठीक कहा—लौकिक धर्म का, व्यावहारिक धर्म का फल तो है ही। राग के साथ राग का और द्वेष के साथ द्वेष का अनुबंध चलता है। अनुकंपा की चौपई में उन्होंने लिखा—'मित्र का संबंध अगले जन्म में भी मित्रता का और शत्रु का संबंध शत्रुता का होता है।'

हमारे बहुत सारे कार्य जुड़े रहते हैं पूर्वजन्म के साथ। अनेक घटनाएं देखने में आती हैं। एक साध्वीजी को कोई प्रेतात्मा सताती थी। पूछा जाता कि क्यों सताती हो? वह कहती—पिछले जन्म में हम भाई बहिन थे। इसने मेरा हार चुरा लिया। मैंने बहुत मांगा, पर इसने दिया नहीं। जब तक मेरा हार नहीं देगी तब तक मैं इसको सताऊंगी और मारूंगी। किसी ने कहा—मैं बढ़िया हार दे देता हूं। उसका उत्तर था—नहीं, मुझे वही हार चाहिए। वह हार मिले तभी छोड़ सकती हूं, अन्यथा नहीं।

लड़का जन्मा, जन्मते ही बीमार। पहले दिन से बीमार। बहुत बीमार रहता। पिता चिंतित। चिकित्सा कराई। मुंबई गया चिकित्सा कराने के लिए। बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाया, काफी चिकित्सा कराई, ठीक नहीं हुआ। चिकित्सा चलती रही। चिकित्सा में काफी पैसा खर्च हो गया। आखिर एक दिन ऐसी स्थिति बनी—वह लड़का सो रहा है। पिता पास में बैठा है, अकस्मात् हंसने लगा। पिता ने कहा—'अरे ! क्यों हंसा?'

'पिताजी! अब मैं जा रहा हूं। तुम मेरे पिता नहीं

हो। मैं तो बदला लेने के लिए आया था। अब मेरा बदला पूरा हो रहा है। मैं जा रहा हूं।'

'क्यों ?'

'पिछले जन्म में तुमने मेरे पचास हजार रुपये धोखाधड़ी करके रख लिए थे। वह मेरा बाकी था, वह मुझे लेना था। तुमने चुकाया नहीं। मेरी चिकित्सा में तुमने पचास हजार खर्च कर दिये। दो सौ-चार सौ बाकी है, वह मेरी अंत्येष्टि में खर्च हो जायेगा। लेखा-जोखा पूरा है अब मैं जा रहा हूं–यह कहने के साथ आंख बंद की और मर गया।

अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जिनकी व्याख्या वर्तमान जीवन से नहीं की जा सकती। हमारा अतीत हमारे साथ चलता है। हम अतीत को छोड़कर वर्तमान की बात सोचें, यह कभी संभव नहीं हो सकता। हाथी और युगल, दोनों अतीतकाल में गहरे जुड़े हुए थे। हाथी ने उसे देखा और स्नेह जाग गया। दोनों के मन में जैसे स्नेह की सरिता प्रवाहित हो गई। स्नेह का निर्झर बहने लगा।

पूर्वजन्म की पावन स्मृति से,
आपस में अनुबंध हुआ।
अंकुश की क्या आवश्यकता,
जब हार्दिक संबंध हुआ।।

यह पहला मौका था कि किसी व्यक्ति ने किसी पशु की सवारी की हो। सब पैदल चलते थे, पदचारी थे। हाथी थे, घोड़े थे, मनुष्य थे पर सब स्वतंत्र। न कोई पास में रखता, न कोई अधिकार करता और न कोई सवारी करता। पहला वाहन बना हाथी। पुरुष हाथी पर सवार होकर पहली बार जब आगे बढ़ा तब लोगों ने देखा, आश्चर्य हुआ! यह क्या? कौन आ रहा है? आज तक तो ऐसा कभी नहीं देखा कि कोई किसी की सवारी करता हो, कोई किसी पर चढ़ता हो। यह कैसे हुआ? सबने बड़े आश्चर्य से देखा। हाथी सफेद और इतनी ही विशिष्ट उसकी उज्ज्वल आभा। उस पर जो चढ़ा, वह एकदम निर्मल लगने लगा। यौगलिक मिले, उन्होंने कहा–यह तो बड़ा आश्चर्य हुआ है। इसका नाम अब होना चाहिए–विमलवाहन। इसका वाहन भी बड़ा निर्मल है, सफेद है, उजला है।

पहला वाहन, पहला वाहक, देखा सबने अद्भुत दृश्य।
सभी युगल हैं पदचारी यह, कौन हस्ति पर चढा अधृष्य।।
करिवर दृष्ट, दृष्ट मानव भी, गज आरूढ़ मनुष्य अदृष्ट।
आरोहण है चरण चार का, एक विकल्प वितर्क विमृष्ट।।
निर्मल वाहन विमल रूप है, नाम विमल वाहन अवदात।
विमल हृदय दोनों का देखा, दोनों ने इक नया प्रभात।।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में यौगलिक युग की स्थिति का विशद वर्णन है। प्रश्न पूछा गया–भंते! उस समय की मिट्टी कितनी मीठी होती थी। उत्तर दिया–गुड़ कितना मीठा होता है, चीनी और खांड कितनी मीठी होती है। इससे भी ज्यादा मीठी थी उस समय की मिट्टी । छोटे बच्चे मिट्टी खाते हैं। पुराने जमाने में मिट्टी बहुत मीठी थी। आज की मिठाई से भी बहुत मीठी थी उस समय की मिट्टी।

एक प्रश्न पूछा गया–उस समय पुष्प और फल बहुत ज्यादा थे। जंगल ही जंगल था। वृक्षों से आकीर्ण थी धरती। उन पर लगने वाले फलों की मिठास कितनी थी? बताया गया–चक्रवर्ती का भोजन सबसे बढ़िया भोजन माना जाता है। चक्रवर्ती की खीर प्रसिद्ध है। एक बार जो चक्रवर्ती की खीर खा लेता है फिर उसका सारा स्वाद बिगड़ जाता है। कोई भी चीज खाओ, उसे नीरस लगती है, वैसा स्वाद नहीं आता। कल्पना की गई–एक लाख गायें। एक का दूध दुहा, दूसरी को पिलाया, दूसरी को दुहा, तीसरी को पिलाया। अंत में जो गाय आती है, उसके दूध से चक्रवर्ती की खीर बनती है।

सूत्रकार ने लिखा–उस समय के फूल और फलों में चक्रवर्ती के भोजन से भी ज्यादा मिठास थी। भोजन पकाया नहीं जाता था। रसोई भी नहीं होती थी। न अनाज होता था, न कुछ करना होता था। बस पेड़ों से फल तोड़े और खा लिये। फूल तोड़े और खा लिये।

पूछा गया–भंते ! उस समय वे आहार फूलों और फलों का कर लेते थे लेकिन रहते कहां थे? घर होता था क्या?

कहा गया–घर नाम की कोई चीज नहीं थी। दो शब्द हैं–अगार और अनगार। घर में रहने वाला अगार। घर को छोड़ने वाला अनगार। सब अनगार थे। कोई घर

नहीं था। वृक्ष ही उनका घर था। वृक्ष ही भोजन और वृक्ष ही घर। पेड़ का फल खा लेते और पेड़ के नीचे रह जाते। पूर्णतः प्राकृतिक जीवन था।

आजकल बहुत लोग प्रकृति की ओर लौटने की बात करते हैं। पहले नगर बसाया, गांव बसाया, घर बनाये। अब आदमी चाहता है प्रकृति की ओर जाना। घर में ऊब आ जाती है तो पिकनिक के बहाने जंगल में जाते हैं। जहां हरियाली होती है, वहां जाते हैं। प्रकृति ही पहले मनुष्य का आवास था। वह प्रकृति से कृत्रिमता की ओर आया। कृत्रिमता में पूरा आनन्द नहीं मिला इसलिए अब फिर वहां लौटना चाहता है। वृक्षारोपण का अभियान चलाया जा रहा है। कुछ नगरों में इतने पेड़ लगा दिए गए हैं, ऐसा लगता है कि जंगल ही बना दिया। आखिर जंगल की प्रकृति छूटती नहीं है। मनुष्य का पेड़ों से संबंध इतना गहरा रहा है कि वह छूटता नहीं है।

जैन साहित्य में एक शब्द आता है वच्छो। उसके दो रूप बनते हैं—वत्स और वृक्ष। चूर्णिकार ने लिखा है—कोई आदमी वृक्ष को काटता है तो ऐसा लगता है वत्स को काट रहा है। आज यह पर्यावरण की बात है—वृक्षों की कटाई मत करो। चूर्णिकार ने लिख दिया—वृक्ष को अपने लड़के की तरह रखना चाहिए। कोई आदमी जैसे अपने लड़के को नहीं सताता वैसे ही पेड़ को नहीं सताना चाहिए।

दैनिक भास्कर में एक लेख पढ़ा, विषय था—पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म, भावी जन्म और ज्योतिष। ज्योतिष का पूर्वजन्म के साथ क्या संबंध है? ज्योतिष से पूर्वजन्म को कैसे जाना जा सकता है? पूर्वजन्म में क्या था? वर्तमान जन्म स्पष्ट है, किंतु भविष्य जन्म में वह कहां पैदा होगा? ज्योतिष में पूर्वजन्म को जानने की पद्धति और भावी जन्म को जानने की पद्धति—दोनों का निरूपण मिलता है। प्रश्न आया—जो लोग जंगलों की कटाई करते हैं, वे किस योनि में पैदा होते हैं? ज्योतिष के आधार पर कहा गया—जो जंगलों की कटाई करता है, बहुत पेड़ काटता है वह पशु-पक्षी की योनि में पैदा होता है।

हम पूर्व जन्म को छोड़कर वर्तमान जन्म को समझने का प्रयत्न करें तो हमारा प्रयत्न सार्थक नहीं होगा। व्यक्ति स्वयं क्या-क्या करके आया है? इसे नहीं देखता, किंतु यहां सब सुख चाहता है। पूरा सुख मिले, पूरी शांति मिले, कोई कलह नहीं, झगड़ा नहीं, सम्मान मिले, सारी सुविधाएं मिले। आकांक्षा तो है, पर यह देखो कि तुम्हारा अतीत कैसा है? तुमने पहले क्या किया था? इसी बिंदु पर आकर कर्म और धर्म को समझने का मौका मिलता है। क्या कर्म किया है? धर्म मुझे क्यों करना चाहिए? इसे समझे बिना पूरी बात समझ में नहीं आती। वृक्षों की कटाई उस जमाने में नहीं होती थी। कोई किसी को सताता नहीं था। अहिंसा धर्म का प्रतिपादन नहीं हुआ था, किंतु प्रकृति से ही जीवन में अधिकतम अहिंसा का व्यवहार होता था। वृक्षों के नीचे रहते। वृक्ष ही घर होते। न गांव होते, न नगर, कहीं कोई बस्तियां नहीं। गांव किसी ने बसाया नहीं, नगर किसी ने बसाया नहीं। न व्यापार, न कोई खेती, न कोई वाणिज्य। लेन-देन का प्रश्न नहीं, विनिमय का काम नहीं।

शस्त्र भी नहीं होते थे। सुरक्षा का प्रश्न ही नहीं था। कोई किसी को सताता ही नहीं था तो शस्त्र क्यों बनें? शस्त्र का आविष्कार किसलिए हुआ? एक को दूसरे से भय पैदा हुआ तब आदमी ने शस्त्र बनाया। सबसे पहले जिस आदमी ने लाठी का आविष्कार किया, वह दुनिया का सबसे अधिक डरपोक आदमी था। उसके मन में डर नहीं होता तो लाठी क्यों बनाता? आप निश्चित मानें—जो जितना ज्यादा शस्त्र का निर्माण करता है वह उतना ही डरपोक होता है, चाहे व्यक्ति हो या राष्ट्र। उस युग में कोई किसी को सताता नहीं था। आदमी चलता, साथ में बाघ भी चलता, हाथी भी चलता। वैर भाव जैसा विचार भी पैदा नहीं हुआ था। वर्तमान युग में तो यह केवल सुखद कल्पना का विषय मात्र है। किंतु वह युग ऐसा था, उस युग का मनुष्य ऐसा था। आज का युग ऐसा हो जाए, आज का मनुष्य और समाज ऐसा हो जाए तो इससे बड़ा कोई वरदान और चमत्कार नहीं हो सकता। ❐

धर्मसंघ के नाम आह्वान

आचार्य तुलसी

'तेरापंथ के 128वें मर्यादा महोत्सव पर समायोजित त्रि-दिवसीय कार्यक्रम के मध्य 22 जनवरी, 1991 को आचार्यश्री ने अपने धर्मसंघ को विशेष रूप से संबोधित किया। आपके उस आह्वान ने समाज की चेतना को एक बार झकझोर-सा दिया। जन-जन के मर्म को छूने वाले उस उद्‌बोधन को जन-जन तक पहुंचाने का एक छोटा-सा उपक्रम है 'आह्वान'। यह आह्वान देश के इस छोर से उस छोर तक बसे लोगों तक पहुंचे और वे आचार्यवर के मन की बेचैनी को समझकर अपने चिंतन और दिशा को बदलें, यह अपेक्षा है। आचार्यश्री के अंतर्मन की भावना थी कि इस आह्वान को सभी पढ़ें, पर पढ़ने तक सीमित न रहें। इसे जीवन के साथ एक रस करके प्रभावी बनाया जाए, यही इसकी सार्थकता है।'

महासभा द्वारा आयोजित 2013 के सभा प्रतिनिधि सम्मेलन को मध्य नजर रखकर आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष पर 'जैन भारती' इस उद्‌बोधन के साथ आप सब तक पहुंच रही है। यह वर्ष संकल्प वर्ष है। हम स्वयं स्वयं का पर्यवेक्षण करें और परिष्कार की प्रक्रिया शुरू करें-यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

-संपादक

आह्वान

"मनुष्य उत्सप्रिय प्राणी है। वह उल्लसित रहना चाहता है, इसलिए उत्सव मनाता है। वह जीवन में बदलाव चाहता है, इसलिए उत्सव मनाता है। वह संस्कृति की सुरक्षा चाहता है, इसलिए उत्सव मनाता है। मुख्यत: तीन प्रकार के उत्सव होते हैं—लौकिक, सांस्कृतिक और धार्मिक। लौकिक उत्सव परंपरा को आगे बढ़ाते हैं और लोकरंजन में निमित्त बनते हैं। सांस्कृतिक उत्सव समाज में सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं और आमोद-प्रमोद बढ़ाते हैं। धार्मिक उत्सवों में धर्म, अध्यात्म और संस्कृति का बोध मिलता है। जीवन-मूल्यों को जीने की प्रेरणा मिलती है और जीवन एवं जगत के प्रति नई दृष्टि मिलती है। वहां आमोद-प्रमोद का लक्ष्य गौण होता है, फिर भी प्रमोद भावना बढ़ाने का अवसर सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

मर्यादा महोत्सव एक धार्मिक उत्सव है। लगभग सवा सौ वर्षों से यह प्रति वर्ष मनाया जाता है। हजारों-हजारों श्रद्धालु जन इस अवसर पर उपस्थित होते हैं। उन्हें बहुत कुछ सुनने-जानने का मौका मिलता है। अनेक साधु-साध्वियां और श्रावक-श्राविकाएं समाज और धर्मसंघ के विषय में बोलते हैं। वर्ष भर में हुए कार्यक्रमों की जानकारी देते हैं, विकास के आंकड़े प्रस्तुत करते हैं और मुक्तभाव से अपने धर्मसंघ एवं धर्मगुरुओं की प्रशस्ति करते हैं। प्रशस्ति करनेवालों को प्रसन्नता होती है और सुननेवालों को भी प्रसन्नता होती है। जिस बात से सबको प्रसन्नता हो, उसे मैं क्यों रोकूं ? जो कुछ कहा जाता है, एक सीमा तक यथार्थ भी होता है। समय-समय पर यथार्थ की अभिव्यक्ति होनी भी चाहिए, पर प्रशस्ति और प्रस्तुति में जो अंतर है, उसे समझना भी जरूरी है। प्रशस्ति में केवल प्रशंसात्मक बातें कही जाती हैं। प्रस्तुति में दृष्टिकोण समीक्षात्मक होता है। उसमें अच्छाइयों के साथ-साथ कमियों की ओर भी इंगित किया जाता है।

ऊंचाइयों का अहसास

मैं जब कभी अपने धर्मसंघ के बारे में सोचता हूं, इसकी अनेक विशेषताएं मेरे सामने आती हैं। एक आचार्य का नेतृत्व, आचार-शुद्धि मूलक दृष्टिकोण, सुदृढ़ संगठन, वैचारिक स्पष्टता, श्रमप्रधान और सादगीपूर्ण जीवन शैली; अनुशासन और समर्पण का अद्भुत योग—ये सब बातें हमें विरासत में मिली हैं। इस युग में साधु-साध्वियों ने विकास के पथ पर कदम बढ़ाए हैं। वे प्रबुद्ध बने हैं। शिक्षा का स्तर उन्नत हुआ है। वक्तृत्व में निखार आया है। साहित्य-सृजन में नया प्रवाह आया है। साध्वियों, समणियों और मुमुक्षु बहनों ने संगीत कला में गति की है। कभी-कभी उनके संगान इतने श्रुतिमधुर होते हैं कि श्रोताओं के मन बंध जाते हैं। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान जैसे व्यापक और जनोपयोगी कार्यक्रम हमारे पास हैं। समण श्रेणी के उद्भव ने जनता को धर्मसंघ के युगीन चिंतन से परिचित कराया है। विदेशों में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। आगम साहित्य के संपादन से कुछ नई संभावनाएं जन्म ले रही हैं।

साधु संघ की तरह श्रावक-समाज में भी जागृति की नई लहर आई है। शैक्षणिक स्तर उन्नत हुआ है। व्यवसाय के क्षेत्र में नई दिशाएं खुल रही हैं। अनेक सभा-संस्थाएं सक्रिय

रूप में काम कर रही हैं। चलने, बोलने, बैठने आदि में अनुशासन और व्यवस्था आई है। महिलाओं में शिक्षा का विकास हुआ है। युवतियों की वक्तृत्व क्षमता बढ़ी है। मंच-संचालन आदि कार्यों में उन्होंने पुरुष वर्ग पर अपना प्रभाव छोड़ा है। सामाजिक कुरूढियों के प्रति उनका दृष्टिकोण बदला है। पर्दा प्रथा बहुत अंशों में समाप्त हो गई। मृत्यु के प्रसंग में कई रूढ़ियों से छुटकारा मिला है। विधवा स्त्रियों की दुर्दशा का अध्याय समाप्त हुआ है। विकास के इन सब घटकों को देख-सुनकर प्रसन्नता होती है, सात्विक गर्व का अनुभव होता है। जैन समाज में तेरापंथ धर्मसंघ की जो छवि बनी है, वह हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। देश के प्रबुद्ध वर्ग में तेरापंथ की जो पहचान बनी है, वह हमें ऊंचाइयों का अहसास कराती है।

सिक्के का दूसरा पहलू

धर्मसंघ की सफलता का व्याख्यान सिक्के का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू है—उन बिंदुओं को देखना, जहां हम असफल रहे हैं अथवा जिन बातों की ओर अब तक हमारा ध्यान नहीं गया है। इसके लिए हमारे पास एक ऐसी आंख होनी चाहिए, जो हमारी कमियों को, असफलताओं को देख सके और हमें अपने करणीय के प्रति सचेत कर सके। अपने जीवन के 77 वर्ष, साधु जीवन के 66 वर्ष या आचार्यकाल के 55 वर्ष मेरे सामने हैं। इन वर्षों में जो काम नहीं हो पाए, उनका लेखा-जेखा प्रस्तुत कर रहा हूं। संघ के एक-एक सदस्य का दायित्व है कि वह उस पृष्ठ को देखे, जो अब तक खाली है। जिन लोगों के पास चिंतन है, सूझबूझ है और काम करने की क्षमता है, वे उस खाली पृष्ठ को भरने के लिए क्या करेंगे, यह भी तय करें।

समस्या संस्कार-निर्माण की

इस सदी के पिछले दो-तीन दशकों में जन्म लेनेवाले बच्चे बुद्धिमान होते जा रहे हैं। वे स्कूलों में पढ़ते हैं, रेडियो सुनते हैं, टेलीवीजन देखते हैं और समाचार पत्र पढ़ते हैं। इससे वे बहुत कम उम्र में बहुत अधिक जानने लगते हैं। उनकी कच्ची समझ असमय में प्रौढ़ बन जाती है। उनके व्यवहार आश्चर्यजनक-से होने लगते हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों में माता-पिता को याद आती है कि उनके बच्चे धार्मिक संस्कारों से शून्य होते जा रहे हैं। प्राचीन काल में बूढ़ी नानियों-दादियों के पास संस्कारों का अखूट खजाना रहता। वे मीठी-मीठी कहानियां सुनातीं, लोरियां गातीं, बच्चों के साथ संवाद स्थापित करतीं और बातों-ही बातों में उन्हें संस्कारों की अमूल्य धरोहर सौंप जातीं। जिन लोगों को अपना बचपन नानियों-दादियों के साये में बिताने का मौका मिला है, वे आज भी धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न हैं।

संस्कार-निर्माण के तीन उपाय

समय के साथ परिस्थितियां बदलीं और बच्चों को संस्कारी बनाने का सिलसिला टूट-सा गया। इन वर्षों में देश-विदेश में रहनेवाले अनेक व्यक्तियों ने चिंता प्रकट करते हुए कहा—'बच्चों को संस्कारी बनाने के लिए आपको कोई नई बात सोचनी होगी। अन्यथा वे

हमारे हाथों से निकल जाएंगे।' उनकी चिंता अकारण नहीं है। मैंने उनको आश्वस्त किया और साधु-साध्वियों को इस दिशा में काम करने की प्रेरणा दी, पर अब तक वांछित परिणाम नहीं आया है। संस्कार-निर्माण के एक परंपरागत उपाय की मैंने चर्चा की। यह उपाय उपयोगी होने पर भी अब पुराना पड़ गया है। वर्तमान जीवन शैली में फिट बैठ सके, ऐसे तीन उपायों की चर्चा मैं यहां करूंगा।

बाल-साहित्य का निर्माण

पहला उपाय है बाल-साहित्य। विगत कई वर्षों से बाल-साहित्य के निर्माण की अपेक्षा अनुभव की जा रही है। आज बच्चों के लिए सर्वाधिक आकर्षित करनेवाली पुस्तक है कॉमिक्स। इसके बाद दूसरा स्थान है रोचक कहानियों का। इस दृष्टि से दो-चार पुस्तकें लिखी गईं और वे प्रकाशित भी हुईं, पर क्या वे पर्याप्त हैं? एक ओर कॉमिक्स साहित्य की बाढ़-सी आ रही है, ऐसी स्थिति में दो-चार पुस्तिकाएं क्या मायने रखती हैं?

बाल सहित्य लेखन को बहुत छोटी बात मानना भी भूल है। इस साहित्य में उन सब बातों का समावेश जरूरी है, जिनकी बच्चों के जीवन में अपेक्षा की जा रही है। वह साहित्य इतना सरल, सरस और रोचक होना चाहिए कि बच्चे उसे सहज भाव से अपना सकें। इसके लिए बच्चों के मन को समझना जरूरी है। बाल साहित्य के लेखक बच्चों के बीच में रहें। उनकी जिज्ञासाओं, कल्पनाओं और भावनाओं को समझें तथा उनकी दृष्टि से दुनिया को देखें तो अधिक उपयोगी साहित्य लिख सकते हैं। जो साहित्य बाल संवेदनाओं को छू सके, जीवन के प्रति नई दृष्टि दे सके और प्रकृति के प्रति नई सोच दे सके, वह बच्चों को लम्बे समय तक प्रभावित कर सकता है, इसके लिए लेखक स्वयं उपयुक्त साहित्य पढ़े और विशेष लक्ष्य के साथ छोटी-छोटी पुस्तकें लिखे तो बड़ा काम हो सकता है। बाल-साहित्य का समुचित निर्माण और तमिल, कन्नड़, अंग्रेजी आदि भाषाओं में उसका अनुवाद–इस काम को जब तक बल नहीं मिलेगा, मैं भावी पीढ़ी के संस्कार-निर्माण की दृष्टि से निश्चिंत नहीं हो सकूंगा।

ज्ञानशाला का प्रयोग

संस्कार-निर्माण का दूसरा सशक्त माध्यम है–ज्ञानशाला। जिन क्षेत्रों में नियमित और व्यवस्थित रूप में ज्ञानशालाओं का संचालन होता है, वहां पढ़नेवाले बच्चे सहज संस्कारी बन जाते हैं, पर देश भर में ऐसे कितने क्षेत्र हैं, जहां इस रूप में ज्ञानशालाएं चलती हैं। योगक्षेम वर्ष में ज्ञानशालाओं के लिए प्रशिक्षकों को ट्रेनिंग देने की व्यवस्था की गई, पर उसका भी समुचित लाभ नहीं उठाया गया। लगता है, अब तक भी इस काम का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। जब तक ऐसे उपक्रमों के प्रति जागरूकता नहीं बढ़ती है, तब तक केवल चिंता करने से समस्या का समाधान कैसे होगा?

विद्या-मंदिर संस्कार-मंदिर बनें

संस्कार-निर्माण का तीसरा माध्यम है–स्कूलों और छात्रावासों में उपयुक्त प्रशिक्षण की व्यवस्था। तेरापंथ समाज आज सब दृष्टियों से सक्षम है। शिक्षा की दृष्टि से नई सोच

रखनेवाले व्यक्ति भी समाज में हैं। जिन क्षेत्रों में समाज के विद्यालय चलते हैं, वहां एक-दो कालांश ऐसे रखे जा सकते हैं, जिनमें आध्यात्मिक एवं धार्मिक संस्कार दिए जा सकें। जिन शिक्षण-संस्थानों में समाज के व्यक्तियों का प्रभाव है, वहां भी ऐसी व्यवस्था संभव हो सकती है। कुछ क्षेत्रों में समाज के छात्रावास चलते हैं। वहां विद्यार्थियों को समुचित प्रशिक्षण दिया जा सकता है। जब तक विद्या मंदिरों को संस्कार मंदिरों में नहीं बदला जाएगा, संस्कार शून्यता के संकट को टालना कठिन है।

विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता के साथ भावनात्मक विकास की क्षमता बढ़ाने के लिए अथवा उनके संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए 'जीवन-विज्ञान' का उपक्रम पढ़ाया जाए और उसमें निर्धारित प्रयोग कराए जाएं तो संस्कार-निर्माण का प्रशिक्षण देने के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था यदा-कदा प्रशिक्षक के रूप में समण-समणियों का भी उपयोग किया जा सकता है।

सुविधावाद से सावधान

अमीरी एक प्रकार की बीमारी है। मैं श्रावक समाज को भी इससे बचाना चाहता हूं। ऐसी स्थिति में साधु-साध्वियों पर इसका प्रभाव वांछनीय कैसे होगा? हम श्रमण हैं। हमारी संस्कृति श्रमप्रधान संस्कृति है। हम किसी भी स्थिति में श्रम की साधना न भूलें। सुविधावाद साधना में बाधक है। हम विकास करें, पर सुविधावादी न बनें। कहीं किसी की कोई भूल ध्यान में आए, उसे नजरंदाज न करें। इस क्षेत्र में हमारी जागरूकता में थोड़ी भी कमी क्यों आए? क्या इस बिंदु की ओर सबकी सावधानी रहती है?

जैनधर्म को जनधर्म बनाने का सपना

जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता है, जैनधर्म के सिद्धांत बहुत ऊंचे हैं, ये संवाद हमें बहुत अच्छे लगते हैं। ऐसी बातें सुनकर हमारा सीना फूलता है, पर क्या हमने कभी सोचा है कि हम जैनधर्म और तेरापंथ को व्यापारी कौम की सीमा से बाहर क्यों नहीं निकाल पाए। पूरे देश में साधु-साध्वियों की यात्राएं होती हैं। प्रति वर्ष सैकड़ों गांवों और देहातों में हमारे पड़ाव होते हैं। लाखों लोग संपर्क में आते हैं। फिर भी हम किसी एक वर्ग को निकट क्यों नहीं ले पाए। एक वेणीरामजी स्वामी ने मालवा क्षेत्र तैयार किया। एक गुलहजारीजी स्वामी ने हरियाणा क्षेत्र बना लिया। प्राचीनकाल में एक-एक सिंघाड़े ने सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों का निर्माण किया। साध्वियों ने महिला समाज को विशेषरूप से संस्कारित किया। आज तो उनकी क्षमताएं अधिक बढ़ी हैं। फिर भी संघ-विकास की दृष्टि से व्यवस्थित काम क्यों नहीं हो पाता? क्यों आज भी वेणीरामजी और गुलहंजारीजी नहीं हैं?

आजकल के साधु-साध्वियां काम नहीं करते हैं, यह बात नहीं है। पंजाब और सौराष्ट्र में उन्होंने बहुत कष्ट सहे हैं। आज भी वे आतंकवाद से अभिभूत पंजाब में पग रोपे हुए हैं। बहुत अच्छा काम कर रहे हैं, पर मेरा सपना इससे भी बड़ा है। मैं जैनधर्म को जनधर्म के रूप में देखना चाहता हूं। इसके लिए कोई व्यवस्थित योजना कब बने? हम लोग देश भर में

घूमते हैं तो हमारे श्रावक-समाज का विस्तार भी देश के विभिन्न भागों में है। लाखों-लाखों लोग उनके संपर्क में आते हैं। क्या उन्होंने उनको साधर्मिक भाई बनाने का लक्ष्य बनाया? इन श्रद्धाशील श्राविकाओं का वास्ता हजारों बहनों से पड़ता है। क्या उन्हें 'णमुक्कार मंत्र' बताने या सिखाने का प्रयास किया गया? हमारे पूर्वजों ने जिन नए लोगों को जैनत्व के संस्कार दिए, क्या उनकी संभाल का दायित्व भी पूरी ईमानदारी से निभाया? यदि ऐसा किया गया होता तो आज जैनत्व का दायरा इतना संकीर्ण नहीं होता।

पता नहीं क्या हुआ, कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है कि जैनधर्म तो महाजनों के लिए ही है। इस धारणा के आधार पर यह कहा जाता है कि जिस प्रकार शेरनी का दूध स्वर्णभाजन के सिवाय अन्य पात्रों में नहीं टिक सकता, वैसे ही जैनधर्म महाजन कौम को छोड़कर हर कौम के लिए नहीं हो सकता। मैं नहीं समझता कि इस धारणा के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार है। सचाई तो यह है कि भगवान महावीर के श्रावकों में बहुत बड़ी संख्या किसानों की थी। दक्षिण भारत के लाखों किसान आज भी जैन हैं। खैर, जो हुआ सो हुआ, अब भी समय है। जब जागे तभी सवेरा। जैनधर्म को जन-जन तक पहुंचाने की एक नई योजना इस समय विचाराधीन है। वह योजना इतनी ठोस और कार्यकारी बने कि उसकी क्रियान्विति हमारी अतीत की भूल का प्रायश्चित्त बनकर हमें आत्मतोष दे सके।

जैनत्व का आदर्श : अनाग्रह

जैनधर्म को जनधर्म बनाने या जन-जन को 'कर्मणा जैन' बनाने की योजना को आगे बढ़ाना हमारा लक्ष्य है, पर क्या इसके साथ-साथ जन्मना जैन लोगों को कर्मणा जैन नहीं बनाना है? जैन लोगों में भी छोटे-छोटे कितने भेद हैं। दसा और बीसा, जो ल्होड़ा साजन और बड़ा साजन के रूप में पहचाने जाते हैं, इनमें भेद का क्या कारण है? यही बात ओस-वालों और पोरवालों को लेकर है। छोटे-छोटे भेदों में उलझने से क्या जैनत्व विभक्त नहीं हो जाता है? छोटी-छोटी बातों को लेकर समाज पक्ष और विपक्ष में बंट जाता है। विवाद की जड़ें इतनी गहरी हो जाती हैं कि समाज के हर काम में अवरोध उपस्थित हो जाता है। छोटी-सी बात पर किसी व्यक्ति या परिवार को जाति से बहिष्कृत करने की घटनाएं भी होती रहती हैं। इन सब स्थितियों को देखकर मन उद्वेलित हो जाता है। पारिवारिक और सामाजिक झंझटों में भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन का उपयोग कहां कर पा रहे हैं? अनाग्रही वृत्ति जैनत्व का आदर्श है। उसे भूलकर दुराग्रह का पल्ला पकड़कर कौन किसका हित साध रहा है?

चिंता का विषय

श्रावक समाज का बदलता हुआ खान-पान गंभीर चिंता का विषय है। खान-पान की शुद्धि जैन समाज की विशेष पहचान रही है। आज वह पहचान खोती जा रही है। आर्थिक संपन्नता, शहरी वातावरण, आकर्षक विज्ञापन और नए संपर्क आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिन्होंने जैन परिवारों में ड्रिंकिंग, स्मोकिंग, ड्रग्स, मांस, अंडे आदि के प्रयोग के रास्ते खोले हैं। समाज के कुछ-कुछ युवक कहीं खुलेआम और कहीं चोरी-छिपे इन अखाद्य, अपेय वस्तुओं का इस्तेमाल कर रहे हैं और समाज एवं परिवार को नेतृत्व देनेवाले निर्वाक् होकर

आह्वान

देख रहे हैं। वे अपने बच्चों को गलत रास्ते पर जाने से रोकने की क्षमता भी खोते जा रहे हैं। क्या इससे बढ़ कर कोई दयनीय स्थिति हो सकती है?

आज अमेरिका जैसे संपन्न राष्ट्रों में लोक-रुचि बदल रही है। एक संवाद पढ़ा कि वहां के दो करोड़ लोगों ने सिगरेट छोड़ दी। इस बदलाव का कारण है डॉक्टरों की चेतावनी। सिगरेट पीने से कैंसर होता है और हार्ट ट्रबल का सामना करना पड़ता है। सिगरेट स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है—क्या ये संवाद भारतीय लोग नहीं पढ़ते हैं? वे इन तथ्यों को देख-सुन कर भी अनदेखा-अनसुना क्यों कर रहे हैं? अपने आप को जैन माननेवाले युवक होटलों, क्लबों अथवा अपने घरों में ही शराब पीते हैं, ड्रग्स का उपयोग करते हैं तो उनका जैनत्व मौन क्यों हो जाता है? छोटे-छोटे बच्चों को पोषक आहार के नाम पर अंडे खिलानेवाले माता-पिता इस अपसंस्कृति के वाहन पर सवार होकर कहां पहुंचना चाहते हैं?

छोटे-छोटे देहातों और गावों में हजारों-हजारों ग्रामीणों को व्यसनमुक्त बनाने का हमारा अभियान सफलता के साथ आगे बढ़ रहा है, पर हम अपने ही समाज के युवकों और किशोरों को उन्मार्ग पर बढ़ने से नहीं रोक पाए हैं। यद्यपि आज भी जैन समाज अन्य समाजों की तुलना में इन बुराइयों से बहुत बचा हुआ है, पर इनकी बढ़ती हुई घुसपैठ को रोका नहीं गया तो भविष्य हमारे हाथ से निकल जाएगा। आज की युवापीढ़ी निषेध की भाषा भी नहीं समझती है। इसलिए अपेक्षा है ऐसे वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों की, जो पूरे समाज में मादक व नशीली वस्तुओं के प्रति वितृष्णा पैदा कर दें।

समाज कहां तक चला जाएगा?

सामाजिक परंपराएं और लौकिक रीति-रिवाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रांत होते हैं और समाज को जोड़कर रखते हैं, किंतु परंपराओं और रीति-रिवाजों में अपसंस्कृति का मिश्रण होने लगे, आडंबर और प्रदर्शन होने लगे तो वे अपनी संस्कृति की गरिमा खो देते हैं। विवाह एक सामाजिक परंपरा है। इसके परिपार्श्व में जो विकृतियां बढ़ रही हैं, वे समाज को कहां ले जाएंगी, कुछ भी कहना कठिन है।

विवाह से पूर्व सगाई के अवसर पर बड़े-बड़े भोज, साते या बींटी में लेन-देन का असीमित व्यवहार, बारात ठहराने एवं प्रीतिभोजों के लिए फाइव स्टार (पंच सितारा) होटलों का उपयोग, घर में और सड़क पर समूह-नृत्य, मंडप और पंडाल की सजावट में लाखों का व्यय, कार से उतरने के स्थान से लेकर पंडाल तक फूलों की सघन सजावट, बिजली की अतिरिक्त जगमगाहट, कुछ मनचले लोगों द्वारा बारात में शराब का प्रयोग, एक-एक खाने में पचासों किस्म के खाद्य, अनेक प्रकार के पेय। प्रत्येक दस मिनट के बाद नए-नए खाद्य-पेय की मनुहार—क्या यह सब जैन परिवारों में नहीं हो रहा है? धार्मिक कहलानेवाले परिवारों में नहीं हो रहा है? समाज का नेतृत्व करनेवाले लोगों में नहीं हो रहा है?

एक ओर करोड़ों लोगों को दो समय का पूरा भोजन मयस्सर नहीं होता, दूसरी ओर भोजन व्यवस्था में लाखों-करोड़ों की बरबादी। बारातियों को जो विविध उपहार दिए जाते हैं, उनकी तो बात ही क्या? समझ में नहीं आता, यह सब क्या हो रहा है? मैं जानता हूं कि

सब लोग नहीं करते, कर भी नहीं सकते, किंतु जो लोग समाज में अग्रणी हैं, प्रभावशाली हैं, वे ऐसा करते हैं तो दूसरों को कोई क्या कह सकता है? समाज के अभावग्रस्त जरूरतमंद लोगों के लिए कहीं अर्थ का नियोजन करना होता है तो दस बार सोचा जाता है और बहाने बनाए जाते हैं, जबकि विवाह आदि प्रसंगों में मुक्त मन से अर्थ का अपव्यय किया जाता है। विवाह के प्रसंग में दहेज की समस्या भी कम जटिल नहीं है। दहेज की मांग, मांग की पूर्ति न हो तो अच्छी-अच्छी कन्याओं का अस्वीकार। मनचाहा दहेज न मिलने पर बहू को यातना देना और मार डालने तक की साजिश करना। यदि जैन समाज में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्तियों को रोका नहीं जा सकता तो आने वाली पीढ़ियां क्या सोचेंगी? क्या कहेंगी? इस विषय में समाज को दृष्टि देनेवाला सामाजिक नेतृत्व कहां खो गया?

बदला आचार-व्यवहार

प्राचीन काल में एक बार विवाह होता, सदा के लिए छुट्टी हो जाती, पर अब तो विवाह होने के बाद भी बार-बार विवाह का रिहर्सल किया जाता है। विवाह की सिल्वर जुबली, गोल्डन जुबली, षष्टिपूर्ति आदि न जाने कितने अवसर आते हैं, जिन पर होनेवाले समारोह, प्रीतिभोज आदि देखकर ऐसा लगता है मानो नए सिरे से शादी हो रही है।

बच्चों के जन्मदिन मनाने की संस्कृति अधिक पुरानी नहीं है। माना कि इससे उल्लास की वृद्धि होती है, पर जन्मदिन मनाने की प्रकिया जैन संस्कृति के अनुरूप कहां है? केक काटना, मोमबत्तियां जलाना या बुझाना आदि जैन क्या, भारतीय संस्कृति के भी अनुकूल नहीं है। फिर भी आधुनिकता के नाम पर सब कुछ चलता है। कहां चला गया मनुष्य का विवेक? क्या यह आंख मूंद कर चलने का अभिनय नहीं है?

फैशनपरस्ती की अंधी दौड़ जिस गति से बढ़ रही है, उसे रोकना कठिन हो रहा है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का उपयोग फैशन के नाम पर होता है। अन्यथा परंपरागत प्राकृतिक प्रसाधनों में क्या कमी थी? लगता है उन निरीह पशुओं की करुण चीत्कारें किसी को सुनाई नहीं दे रही हैं। इस संदर्भ में कई बार इंगित किया जा चुका है, किंतु किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगती है। आजकल की वेशभूषा भी कितनी विचित्र होती है। संस्कृति और परंपरा की विस्मृति करानेवाला यह आचार-व्यवहार समाज को इतना क्यों लुभा रहा है? फैशन के नाम पर होनेवाली वस्तुओं की खरीद-फरोक्त में कितना ही पैसा लग जाए, कभी चिंतन नहीं होता और धार्मिक साहित्य लेना हो तो कीमतें आसमान पर चढ़ी हुई लगती हैं। क्या यह चिंतन का दारिद्रय नहीं है?

जीवन-शैली संस्कृति से जुड़े

कई वर्षों पूर्व समाज में एक चिंतन उभरा कि जैन संस्कृति जीवन-शैली के साथ जुड़े, यह बहुत जरूरी है। खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पर्व-त्योंहार आदि के समायोजन में जैनों की अपनी अलग पहचान हो, इस दृष्टि से भी यह काम आवश्यक है। समाज-दर्शन में सांस्कृतिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक जीवन में प्रभावी बनकर वे मूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे सरकते हैं। संस्कृति के विकास में धर्म की भी एक भूमिका है। जैन समाज की सांस्कृतिक चेतना समकालीन अन्य संस्कृतियों की अच्छाइयों को आत्मसात कर अपने

उदार दृष्टिकोण का परिचय दे, इसमें कोई कठिनाई नहीं है, किंतु वह पूरी तरह से काल की परतों के नीचे दब जाए, यह स्थिति वांछनीय नहीं है।

इस चिंतन के परिप्रेक्ष्य में एक प्रश्न आ सकता है—जैनधर्म निर्वाणवादी धर्म है। उसमें आत्मा, कर्म और मोक्ष की चर्चा तो है, पर सामाजिक रीति-रिवाजों के संदर्भ में वह क्या दृष्टि दे सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में एक प्रतिप्रश्न खड़ा होता है—'क्या जैन लोगों में जन्म और मृत्यु की घटनाएं नहीं होतीं? क्या वे शादी-विवाह नहीं करते? क्या वे पर्व-त्योहार नहीं मनाते? यदि जैन समाज में ये सब काम होते हैं तो इनके संपादन की विधि क्यों नहीं होगी?'

ऐसी विधियां निर्धारित हैं क्या? इस प्रश्न का उत्तर है—'जैन-संस्कार-विधि नामक पुस्तिका।' समाज के लोगों ने चिंतनपूर्वक ऐसी विधियों का निर्धारण किया है, जो लौकिक होने पर भी जैनत्व को प्रतिबिंबित करनेवाली हैं। उन विधियों की क्रियान्विति के लिए संस्कार भी तैयार हो गए हैं, जिन्होंने जहां-जहां ये संस्कार संपन्न करवाए हैं, समाज में उसकी अच्छी प्रतिक्रिया रही है।

जन्म-नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि प्रसंगों में जैन-संस्कार-विधि का प्रयोग अपने आप में अनूठा प्रयोग है। दीपावली आदि की आराधना भी इस विधि से अच्छी हो सकती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि बड़े कहलानेवाले बहुत से लोगों को शायद इस संबंध में कोई जानकारी ही नहीं होगी। मेरा तो यह अभिमत है कि जैन-संस्कार-विधि एक ओर रूढ परंपराओं का परिष्कार करती है, तो दूसरी ओर आर्थिक दबाव को भी हल्का करती है। कमी एक ही रही है कि संपूर्ण जैन समाज के लिए उपयोगी इन विधियों को अब तक व्यापक नहीं बनाया जा सका।

साज-सज्जा में संस्कृति की अपेक्षा

मकानों, दुकानों और कार्यालयों की साज-सज्जा में भी जैन लोगों का कोई मौलिक चिंतन नहीं है। वे हर कोई चित्र और हर कोई कलेंडर टांग लेते हैं। उद्देश्य होता है केवल 'शो।' उन चित्रों का बच्चों के मन पर क्या प्रभाव होता है? उनसे अपनी संस्कृति उजागर होती है या नहीं, इन मुद्दों पर विचार किए बिना घर, दुकान या कार्यालय को सजाना क्या सूझबूझ का परिचायक है? किसी नए व्यक्ति को प्रथम दर्शन में ही पता लगे कि यह मकान या दुकान जैनों की है, ऐसी सार्थक साज-सज्जा क्या नहीं हो सकती?

नमस्कार महामंत्र, तीर्थंकरों और आचार्यों के नाम उनके चित्र, मधुबिंदु का दृष्टांत, छह लेश्या का प्रतीकात्मक चित्र आदि विशिष्ट वाक्यों और चित्रों का उपयोग हो तो बच्चों को भी सहज संस्कार मिल सकते हैं। अच्छे-अच्छे शिक्षाप्रद और प्रेरक वाक्यों के स्टीकर भी आजकल बहुत उपलब्ध होते हैं। अपेक्षा है ऐसे व्यक्तियों की, जो इस प्रकार की सांस्कृतिक वस्तुओं के व्यवस्थित सेट तैयार कर सबको सुलभ करा सकें। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होने चाहिए, जो प्रत्येक परिवार को ऐसी प्रेरणा देते रहें। आज इस क्षेत्र में चिंतन करनेवालों और काम करनेवालों की बहुत कमी हो रही है। अब भी समाज का ध्यान इन दिशा में केंद्रित हो तो जैन संस्कृति घर-घर की संस्कृति बन सकती है।

धार्मिक समारोहों की समीक्षा

सामाजिक आयोजनों और उत्सवों में बढ़ रहे आडंबर और दिखावे से धार्मिक समारोह भी अछूते नहीं हैं। व्यवस्था के लिए पंडाल आदि बनाने होते हैं, पर उनकी साज-सज्जा में औचित्य का अतिक्रमण क्यों होता है? प्रवचन पंडालों में बिजली की अनावश्यक जगमगाहट का क्या अर्थ है? प्रत्येक कार्यक्रम के वीडियो कैसेट की क्या उपयोगिता है? ऐतिहासिकता या उपयोगिता की बात को भुलाकर देखादेखी, इन सब प्रवृत्तियों को बढ़ाना गलत है। उन्होंने किया, इसलिए हम भी करेंगे, यह भी कोई बात होती है? सामाजिक और पारिवारिक फंक्शन हो या धार्मिक समारोह, इस प्रकार की प्रवृत्तियों से कभी समाज की गरिमा बढ़ती नहीं है।

दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियों की सुविधा का ध्यान रखना एक बात है। उसके लिए व्यवस्था की जा सकती है, पर नि:शुल्क भोजन-व्यवस्था के आगे जो प्रश्नचिह्न लगा है, क्या कभी उस पर दीर्घ दृष्टि से विचार किया है? क्षेत्रीय और सामाजिक परिस्थितियों के नाम पर अनेक लोग नि:शुल्क भोजन-व्यवस्था के पक्ष में हैं। वे आगंतुकों को भोजन कराना जरूरी समझते हैं, पर क्या अनेक प्रकार के मिष्टान्नों के बिना भोजन नहीं हो सकता? कभी-कभी तो ऐसा लगता है मानो किसी बारात को खाना दिया जा रहा है। इन सबके पीछे नाम या प्रतिष्ठा की भावना या देखादेखी करने की मनोवृत्ति ही काम करती होगी, पर क्या इससे सामाजिक संतुलन गड़बड़ाने का खतरा बढ़ेगा नहीं?

अब भी समय है, समाज संभल जाए, यह कहने की अपेक्षा अब कहना पड़ेगा कि समय हाथ से निकलता जा रहा है। समाज ने इस संबध में गंभीरता से चिंतन नहीं किया तो अनेक प्रकार की जटिलताओं का सामना करना पड़ सकता है। युग की परिस्थिति को देखते हुए शादी-विवाह आदि आयोजनों में भी सादगी रखने का स्वर सुनाई दे रहा है, वहां धार्मिक समारोहों में आडंबर और फिजूलखर्ची की बात सहज कैसे हो सकती है?

आह्वान

साहित्य के प्रति आकर्षण कम क्यों?

साहित्य के संबंध में मैंने थोड़ा-सा इंगित किया था कि बाल साहित्य नहीं के बराबर है। इस अभाव को भरने के लिए प्रयत्न करना है, पर हमें यह नहीं भूलना है कि हमारे धर्मसंघ का अन्य साहित्य उत्तरोत्तर समृद्ध होता जा रहा है। सम्पादित आगम साहित्य, अणुव्रत साहित्य, प्रेक्षा साहित्य, यात्रा साहित्य, आख्यान एवं गीत साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाश में आए हैं। देश के प्रबुद्ध वर्ग ने यह साहित्य पढ़कर बहुत अनुकूल प्रतिक्रिया की है। जैनों के प्राय: सभी संप्रदायों के साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाएं अपने साहित्य को रुचि से पढ़ते हैं। नए साहित्य के प्रति उनका आकर्षण उनकी उदार वृत्ति का परिचायक है। अनेक साधु-साध्वियों ने आगम साहित्य और प्रेक्षा साहित्य के बारे में जो विचार प्रेषित किए हैं, वे उत्साहवर्द्धक हैं। इससे सांप्रदायिक सौहार्द बढ़ा है और एक-दूसरे के निकट होने में सहयोग मिला है। यह पक्ष हमारे लिए आत्मगौरव का है, पर देखना यह है कि ऐसे लेखकों की संख्या कितनी है? साहित्य की मांग के साथ लेखकों की संख्या नहीं बढ़ी तो हम उसकी आपूर्ति कैसे कर पाएंगे?

आह्वान

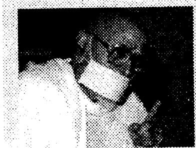

साहित्य के संदर्भ में जब मैं अपने समाज पर दृष्टिपात करता हूं तो मुझे निराशा-सी होती है। अन्य लोगों पर जिस साहित्य का इतना प्रभाव है, निकट रहनेवाले लोग उससे पूरे परिचित भी नहीं हैं। डॉ. डी. एस. कोठारी ने तो आगम साहित्य देखकर यहां तक कह दिया—'आगम साहित्य ऐसा है कि प्रत्येक जैन और तेरापंथी घर में यह आभूषणों की तरह सुरक्षित रहना चाहिए'। प्रत्येक गृहस्थ अपने घर को सजाने के लिए 'शो केश' में कितनी चीजें रखता है, पर साहित्य कितने घरों में मिलता है? अपेक्षा तो इस बात की है कि प्रत्येक घर में एक अलमारी ऐसी हो, जिसमें आगम साहित्य और इसी कोटि का अन्य साहित्य उपलब्ध रहे। उस साहित्य को कोई समझनेवाला हो या नहीं, वह उस घर और परिवार की सांस्कृतिक और साहित्यिक रुचि का प्रतीक तो बनेगा ही। पिछले कुछ वर्षों से कई परिवारों में साहित्य खरीदने की रुचि बढ़ी है। कोई भी नई पुस्तक आती है, वे खरीदकर ले जाते हैं, किंतु पढ़ने की रुचि बहुत कम लोगों में है। अच्छे-से-अच्छा साहित्य अलमारियों में बेतरतीब पड़ा रहता है। न उसका समुचित रख-रखाव होता है और न पढ़ने में पूरा उपयोग होता है। अलबत्ता साधु-सांध्वियां थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ते हैं, पर उनका भी लक्ष्य बहुत छोटा होता है। अधिकांश साधु-साध्वियां व्याख्यान देने में सहायक सामग्री खोजने की दृष्टि से साहित्य पढ़ते हैं। इस लक्ष्य को व्यापक बनाया जाए और स्वाध्याय को साधना एवं ज्ञान के विकास का माध्यम माना जाए तो पढ़ने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ सकती है।

कुछ लोग कहते हैं—'साहित्य का मूल्य बहुत अधिक रहता है।' इसके आर्थिक पक्ष के बारे में कुछ कहना मेरा विषय नहीं है, पर इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि दैनंदिन उपयोग की चीजों की कीमतें कितनी होती हैं। जूता, साड़ी, तेल, साबुन आदि खरीदते समय आप यह बात सोचते हैं क्या? फिर पुस्तक तो पूरे परिवार के काम आती है। कई पीढ़ियों तक उसका उपयोग होता रहता है। उसे खरीदते समय आपका ध्यान क्यों अटकता है?

पत्र-पत्रिकाओं की उपेक्षा क्यों?

साहित्य का एक अंग है पत्र-पत्रिकाएं। पिछले कुछ वर्षों से हमारे धर्मसंघ की पत्र-पत्रिकाओं के स्तर को उन्नत करने का सलक्ष्य प्रयत्न हुआ है, हो रहा है। जैन भारती, युवादृष्टि, प्रेक्षाध्यान, तेरापंथ टाइम्स आदि ने पत्रिका जगत में अपना स्थान बनाया है। साप्ताहिक विज्ञप्ति कोई साहित्यिक बुलेटिन नहीं है, फिर भी उसकी लोकप्रिता जितनी बढ़ी है, किसी से अज्ञात नहीं है। अणुव्रत अपने क्षेत्र का अनूठा पत्र है। जहां तक मैं समझ पाया हूं, देशभर में नैतिक विचारों का संवाहक यह एक ही पत्र है। इसका संपादन भी कलात्मक हो रहा है। हमारे समाज के व्यापारी वर्ग के व्यक्ति इतना अच्छा संपादन कर सकते हैं, समाज के लिए गौरव की बात है। इसके संपादकीय भी बहुत सामायिक और सचोट अभिव्यक्ति देनेवाले होते हैं। इन सभी पत्र-पत्रिकाओं के स्तर और सामग्री से मुझे पूरा संतोष है, यह तो मैं नहीं मानता, किंतु इनकी स्थिति में जो सुधार आया है, वह कम संतोषजनक नहीं है।

पर मैं समाज से पूछना चाहता हूं कि इतने बड़े समाज में इन पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहकों की संख्या चार-पांच हजार तक भी न पहुंचा पाए, क्या यह दर्द की बात नहीं है? एक ओर

हम देखते हैं साधरण-से दीखनेवाले पत्रों का सरक्युलेशन लाखों में होता है। दूसरी ओर जीवनस्पर्शी साहित्य और पत्रों की उपेक्षा होती है। समाज के प्रबुद्ध वर्ग के चिंतन को यह चुनौती है। जब तक इन सब बातों में समाज का दृष्टिकोण नहीं बदलता है, तब तक उसे प्रगतिशील कैसे माना जा सकता है? संभवत: बहुत लोगों को तो यह भी ज्ञात नहीं होगा कि हमारे समाज की पत्रिकाएं कितनी हैं? मैं चाहता हूं कि समाज के कुछ दृष्टिसम्पन्न व्यक्तित्व आगे आएं और हर क्षेत्र में समाज का सही मार्गदर्शन करें।

नाम की गरिमा सुरक्षित रहे

जो लोग अपने आपको जैन, तेरापंथी या अणुव्रती मानते हैं, उनकी जीवन-शैली में कोई अंतर न हो तो उसके जैन या अणुव्रती होने की निष्पत्ति क्या हुई? जीवन-शैली का एक मुख्य अंग है व्यापार। इस बात को सब जानते हैं कि कोई भी व्यवसायी साधु नहीं होता। जीविका कमाने के लिए उसे व्यवसाय जगत में मान्य नीतियों का सहारा लेना पड़ता है, पर एक धार्मिक और नैतिक व्यक्ति सब सिद्धांतों एवं नीतियों को ताक पर रखकर येन-केन-प्रकारेण अर्थार्जन की बात कैसे सोच सकता है?

एक और नई बात सुनने में आई है कि कुछ लोग अपने व्यापार के साथ तीर्थंकरों, आचार्यों के नाम जोड़ते हैं। क्यों? उससे उनका व्यापार अच्छा चलता है। इसका मतलब यह हुआ कि अध्यात्म के प्रेरणास्रोत तीर्थंकरों-आचार्यों के चित्रों और नामों का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करते हैं। कई व्यक्तियों ने मुझे बताया—'आपके नाम से व्यापार किया, आपके नाम से दुकान की, हमें अकल्पित लाभ मिला।' अपना-अपना विश्वास है। इस संदर्भ में मैं और क्या कह सकता हूं, पर इतना अवश्य कहूंगा कि जहां मेरा नाम जुड़े, अन्य आचार्यों और तीर्थंकरों के नाम जुड़े, वहां ऐसा कोई काम नहीं होना चाहिए जिस पर लोगों को उंगली उठाने का मौका मिले और धर्मसंघ की गरिमा पर आंच आए।

व्यस्तता और अस्तव्यस्तता

इस युग के लोगों की एक बड़ी समस्या है—'व्यस्तता'। छोटे-बड़े सभी लोग इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें ध्यान, स्वाध्याय, माला, सामायिक, संतदर्शन, प्रवचन श्रवण आदि धार्मिक अनुष्ठानों के लिए समय नहीं मिलता। जब कभी इनके लिए प्रेरणा दी जाती है, एक बंधा-बंधाया उत्तर होता है—'हमारी इच्छा तो बहुत है, पर क्या करें, समय नहीं है।' मुझे लगता है यह मानसिकता व्यस्तता की नहीं, अस्त-व्यस्तता की है। व्यक्ति कितना ही व्यस्त हो, उसकी दिनचर्या नियमित है तो उसे हर काम के लिए समय उपलब्ध हो जाता है। दिनचर्या व्यवस्थित नहीं होती है तो सारे काम अस्त-व्यस्त होते हैं। सामान्य कामों में अधिक समय लग जाता है और करणीय कामों के लिए समय बचता नहीं।

मैं अनुभव करता हूं कि व्यक्ति के पास कमी समय की नहीं, उसके सम्यक् नियोजन की है। बारह-एक बजे सोना और आठ-नौ बजे उठना आज सामान्य बात हो गई है। बीच में जितना समय रहता है, उसका अधिक हिस्सा व्यवसाय के नाम समर्पित होता है। कुछ समय

खाने, पीने, घूमने एवं मित्रों के साथ गपशप में बीतता है। दिन और रात का एक मूल्यवान हिस्सा टी.वी. देखने में पूरा होता है। इन कामों में दस मिनट की कटौती नहीं हो सकती और धर्मोपासना के खाते में जीरो भी रहे तो कोई दर्द नहीं होता है। जो लोग समय का अच्छे ढंग से नियोजन करना जानते हैं, वे सब कुछ करके भी फुरसत में रहते हैं। जो उसका सही नियोजन नहीं कर पाते, उनकी अस्त-व्यस्तता उन्हें कभी चैन से नहीं जीने देती। समाज के लोग ही नहीं, हमारे साधु-साध्वियां भी समय का सम्यक् नियोजन करना सीखें ओर समयाभाव का बहाना बनाकर आवश्यक करणीय कामों को टालें नहीं।

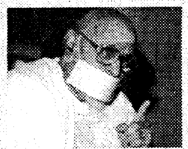

आह्वान

संस्थाओं का संचालन कैसा है?

पिछले कुछ दशकों में हमारे धर्मसंघ में अनेक संस्थाएं उभरी हैं। उनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का संचालन होता है। क्या उन संस्थाओं का संचालन ठीक ढंग से हो रहा है? क्या उनके सारे काम संविधान के अनुसार और नियमित होते हैं? क्या उनके हिसाब-किताब स्पष्ट और व्यवस्थित हैं? क्या उनके पदाधिकारी संविधान को समझते हैं? क्या वे संस्थाओं में अपने समय, श्रम और सूझबूझ का उपयोग करते हैं? क्या वे संस्थाओं की गति-प्रगति की तटस्थ समीक्षा करते हैं? एक ही काम में अनेक संस्थाओं की शक्ति खपने की स्थिति में क्या पदाधिकारी आपस में मिल-बैठकर कोई नीति तय करते हैं? क्या ठहराव की स्थिति उत्पन्न होने पर वे व्यवस्था-परिवर्तन की मानसिकता रखते हैं? इस प्रकार के बहुत-से प्रश्न हैं, जो लम्बे समय से अनुत्तरित हैं। क्या इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक नहीं है?

संस्थाओं की रजत जयंतियां मनाने जितना समय हो जाए और उनकी कार्य-प्रणाली नियमित न हो पाए, क्या यह उपहास की बात नहीं है? संस्थाओं के नाम से बड़े-बड़े भवन खड़े हो जाएं, उनकी रचनात्मकता का एक मात्र यही प्रमाण नहीं है। संगठनमूलक और गतिविधिमूलक जितनी भी संस्थाएं हैं, उनका व्यवस्थापक्ष जब तक स्वस्थ और पुष्ट नहीं होगा, उनके कार्यक्रम प्रभावी और स्थायी नहीं बन सकेंगे। आज समाज में अच्छी सूझबूझवाले व्यक्तियों की कमी नहीं है। संस्था-संचालन का अनुभव रखनेवाले व्यक्ति भी हैं। उनके मार्गदर्शन में प्रत्येक संस्था नियमित और सक्रिय बन जाए तो संभावनाओं की नई खिड़कियों को खोला जा सकता है। समाज में अखिल भारतीय स्तर की कितनी संस्थाएं हैं? वे क्या काम करती हैं? यह जानकारी भी समाज के बहुत लोगों को नहीं है। जिन क्षेत्रों में प्रतिवर्ष साधु-साध्वियों के चातुर्मास होते हैं, वहां के लोगों को भी धर्मसंघ की गतिविधियों का पूरा ज्ञान नहीं होगा तो क्या यह कल्पना कर सकते हैं कि हमारे संघीय और राष्ट्रीय कार्यक्रमों की अवगति अन्य समाजों तक पहुंच सकेगी?

काश! मेरे मन की व्यथा को समझा जाता

विगत चार-पांच दशकों में हमारे संघ में विकास की दृष्टि से जो चिंतन और उपक्रम चला, उसे हम समाज के गले नहीं उतार पाए। उस रूप में समाज को ढाल नहीं पाए। अणुव्रत, नया मोड़, प्रेक्षाध्यान आदि कार्यक्रमों को समय-समय पर अच्छे ढंग से समाज के सामने प्रस्तुत किया गया, पर उन्हें पूर्णतः आत्मसात करने की स्थिति नहीं बनी। संभव है समाज

आह्वान

ने सोचा हो कि ये सब बातें जनता के लिए हैं। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि हम तेरापंथ समाज को अपनी कल्पना के अनुरूप ढाल पाते तो आज उसका स्वरूप इतना भव्य और सुघड़ होता कि मैं बता नहीं सकता।

कुछ काम ऐसे हैं, जिनके बारे में अब तक भी पूरा चिंतन नहीं हो सका। कुछ काम ऐसे हैं, जिनके बारे में पूरा चिंतन हुआ, पूरी योजना बनी, किंतु क्रियान्विति पूरी नहीं हो पाई। हमने काम करना चाहा और नहीं कर पाए, इसकी मेरे मन में पीड़ा है, वेदना है। काश! मेरी इस पीड़ा और वेदना को आप समझ पाते।

मैं बहुत बार देखता हूं कि मुझे थोड़ा-सा जुकाम हो जाता है, ज्वर हो जाता है, श्वास भारी हो जाता है, पूरे समाज में चिंता की लहर दौड़ जाती है। स्थान-स्थान से तार आते हैं। टेलीफोन झनझना उठते हैं। मुझे हिदायत दी जाती है कि 'मेरा शरीर मेरा अपना ही नहीं है, यह संघ का शरीर है, समाज का शरीर है, इसकी किंचित भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।' समाज की इस संवेदनशीलता को मैं औपचारिक नहीं मानता। मेरी थोड़ी-सी वेदना से पूरा समाज प्रभावित होता है, किंतु मेरे मन में कितनी पीड़ाएं हैं, क्या इसकी किसी को चिंता है? कई बार मेरी इच्छा होती है कि ऐसे समारोहों में अपने मन को खोलकर रख दूं। अपने मन की व्यथा समाज को सुनाऊं और यह अपेक्षा करूं कि पूरा समाज एकजुट होकर उस व्यथा को मिटाने में सहभागी बने।"

उसी इच्छा की प्रेरणा से आज मैंने अपने आपको खोला है। अपनी वेदना समाज को सुनाई है। वैसे व्यक्तिशः भी मैं अपनी पीड़ा को अभिव्यक्ति देता रहा हूं। कुछ लोगों ने मेरी पीड़ा को पहचाना है और अपनी सोच को मेरी सोच के साथ जोड़ा है। इस वर्ष भिक्षु अभिनिष्क्रमण स्थल से हम नया अभिक्रम करने जा रहे हैं। उसके लिए ठोस योजना और व्यवस्थित कार्यक्रमों की बात सोची जा रही है। देखना है आगामी वर्ष हमारे लिए कितना कार्यकारी और उपयोगी बनता है।

श्रद्धा की भाषा

श्रद्धा ज्ञान की परिपक्व दशा का नाम है। ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होती है वह यथार्थ में श्रद्धा नहीं होती, किंतु एक संस्कारगत रुढ़ि होती है।

व्यक्ति में सबसे बड़ा बल श्रद्धा का है। श्रद्धा टूटती है, तब पैर थम जाते हैं, वाणी रुक जाती है और शरीर जड़ हो जाता है। श्रद्धा बनती है तब ये सब गतिशील बन जाते हैं।

समस्या के समाधान का सबसे बड़ा सूत्र है श्रद्धा। किसी भी विवाद का अंत तर्क से नहीं होता है, किंतु श्रद्धा से होता है। श्रद्धा जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।

अधिवेशन महासभा का : दर्पण भविष्य का

समाज संगठन के आधार पर चलता है। संगठन की दृढ़ता सामाजिक ढांचे को मजबूत बनाकर रखती है। संगठन कमजोर हो तो समाज का ढांचा बिखरने लगता है। संगठन शक्ति का प्रतीक होता है। उसके अभाव में शक्ति क्षीण होती है, विकास की गति मंद होती है और गलत तत्त्वों को हावी होने का अवसर मिल जाता है।

एक समय था, जब सामाजिक संगठन का सूत्र 'पंचायत' के हाथ में था। समाज पर पंचायत की पकड़ थी। उसका अनुशासन प्रभावशाली था। सामान्यतः उसे भंग करने का साहस किसी में नहीं होता था। इस कारण समाज अनेक प्रकार की बुराइयों से बचा हुआ था। पारस्परिक सहयोग की भावना प्रबल थी। समाज में गलत तत्त्वों की घुसपैठ नहीं हो पाती थी।

पंचायत व्यवस्था की शिथिलता ने सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया। वर्तमान में न तो किसी पर कोई बंधन है और न किसी का अंकुश है। थोड़ा-बहुत नियंत्रण है तो धर्म और धर्मगुरुओं का है। ऐसी स्थिति में आज समाज को ऐसे अनुशासन की अपेक्षा है जो बिखराव को समेट सके और शक्ति का सम्यक् नियोजन कर सके।

कहां से फूटे आशा के अंकुर

समाज में अनेक संस्थाएं अस्तित्व में आई हैं, संस्थाएं बन गईं, पर उनका संचालन करने वालों में दायित्व-बोध, कर्तव्यनिष्ठा और कर्तृत्व का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ है। कार्यकर्ताओं के निर्माण की कोई ठोस पद्धति काम में नहीं ली जा रही है। जितने कार्यकर्ता हैं, उनमें भी तालमेल कम बैठता है। व्यक्तिगत अहं तथा पद-प्रतिष्ठा की लिप्सा दायित्व की बुद्धि को कुंठित कर रही है। वैचारिक मतभेद करणीय कार्यों की क्रियान्विति में बाधक बन रहे हैं। समाज में सेतु बनकर काम करने वालों की संख्या घटती जा रही है। चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति के बीच में होने वाला विलंब उसकी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लगा रहा है। हताशा और अपेक्षा के इस वातावरण में आशा का अंकुर कहां और कैसे फूट सकता है?

कुछ होना चाहिए, पर क्या होना चाहिए?

'श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा' समाज की पहली संस्था है। सबसे प्राचीन और सबसे बड़ी अखिल भारतीय स्तर की संस्था अपने अखिल भारतीय स्वरूप को प्राप्त करे, यह आवश्यक है, अन्यथा वह समाज पर अपनी पकड़ को मजबूत नहीं कर सकती। आज बहुत लोग अनुभव कर रहे हैं कि सामाजिक संगठन को सुदृढ़ करने के लिए कुछ होना चाहिए।

चिंतन का अगला बिंदु है—क्या होना चाहिए? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए इन दिनों महासभा नई करवट ले रही है। महासभा का कर्तृत्व सामने आए, इसके लिए सभी क्षेत्रों की तेरापंथी सभाओं को व्यवस्थित

बनाना जरूरी है। शरीर के सब अंग-उपांगों का स्वास्थ्य शरीर का स्वास्थ्य है। इसी प्रकार सब सभाओं का कर्तृत्व महासभा का कर्तृत्व है। यह कल्पना तभी साकार हो सकती है, जब सब सभाएं महासभा के साथ जुड़कर रहें।

अधिवेशन भविष्य में दर्पण बने

समाज में आज भी पंचायत व्यवस्था है, किंतु वह प्रभावी नहीं है। संभव भी नहीं लगता कि पंचायतों का प्रभाव बढ़ेगा। स्वच्छंदता का दौर पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में तेरापंथी सभाओं को सशक्त और सक्रिय बनाया जा सके तो संगठन के धागे को मजबूत रखा जा सकता है। तेरापंथी महासभा का इस वर्ष का अधिवेशन इस दिशा में विशेष कार्यकारी बने, इस आकांक्षा की पृष्ठभूमि में तेरापंथी सभाओं को शक्तिसंपन्न बनाने की कल्पना जुड़ी हुई है। मैं चाहता हूं कि यह अधिवेशन भविष्य का दर्पण बने, इस दृष्टि से निम्न निर्दिष्ट बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित करने की अपेक्षा है–

- देश भर की तेरापंथी सभाएं सुव्यवस्थित एवं सक्रिय हों।
- सभा-भवनों की व्यवस्था एक निश्चित प्रणाली से हो।
- सामाजिक संगठन का दायित्व सभाओं के पास हो।
- प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञानशाला का नियमित संचालन हो।
- प्रत्येक सभा में संघीय साहित्य व्यवस्थित रूप में हो।
- प्रत्येक सभा में वाचनालय चलाने की व्यवस्था हो।
- प्रत्येक सभा में समाज की सभी मुख्य पत्र-पत्रिकाएं पहुंचे, उन्हें घर-घर में पहुंचाने का प्रयत्न हो।
- केंद्र का निर्देश सब स्थानों में पहुंचे और उसका पालन जागरूकता के साथ हो।
- कर्मणा जैन बनाने का अभिक्रम व्यवस्थित रूप से चले।

इन बिंदुओं की क्रियान्विति के लिए तेरापंथी महासभा के अधिकृत कार्यकर्ता पूरे देश में फैले हुए तेरापंथी समाज के साथ संपर्क स्थापित कर सबको व्यवस्थित दिशादर्शन दें, यह आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाजव्यापी सुनियोजित यात्रा का अभियान उपयोगी बन सकता है।

प्रस्तुत प्रसंग में जिन मुद्दों की ओर संकेत किया गया है, उनमें से ज्ञानशाला और सामाजिक संगठन का दायित्व–इन दो मुद्दों पर कुछ विस्तार से चर्चा की जा रही है।

ज्ञानशालाओं से मिले संस्कारों का प्रकाश

बच्चों को संस्कारी बनाना आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है। उनमें बढ़ती जा रही संस्कारहीनता, अनुशासनहीनता और आधुनिकता उनको अधर में लटका रही है। वे 'नो हव्वाए नो पाराए'–न इस पार के रहे हैं, और न उस पार पहुंच पाए हैं। उनकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि को परिष्कृत करने में ज्ञानशला का अपूर्व योगदान हो सकता है। ज्ञानशाला से संबंधित पूरा दायित्व महासभा को दिया गया है। इस दायित्व के प्रति महासभा की जागरूकता से तेरापंथ समाज का हर क्षेत्र और हर परिवार लाभ उठा सकता है।

ज्ञानशाला की एक न्यूनतम योजना समाज के सामने रखी जाए, यह अपेक्षा है। उसमें ज्ञानशाला के पाठ्यक्रम, व्यवस्था-तंत्र, संचालकों एवं शिक्षकों के प्रशिक्षण का प्रारूप आदि मुद्दों पर स्पष्ट और समान व्यवस्था का निर्धारण हो सके तो देशभर की ज्ञानशालाओं में एकसूत्रता रह सकती है। ज्ञानशालाओं के साथ-साथ स्थान-

स्थान पर यथासंभव प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था में भी जागरूकता रहे तो संस्कारहीनता के अंधकार को दूर ढकेला जा सकता है।

कोई कहने वाला नहीं

तेरापंथी सभा समाज का ऐसा संगठन है जो धार्मिक और सामाजिक—दोनों प्रकार के दायित्वों को वहन कर सकता है, पर जहां तक मुझे जानकारी है, अधिक सभाएं सक्रिय नहीं हैं। जिनमें थोड़ी-थोड़ी सक्रियता है, उनका कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित है। देशभर की सभाएं किस सभा को आदर्श मानकर चले? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो किसी एक संस्था का नामोल्लेख करने के लिए दिमाग पर काफी जोर डालना होगा।

तेरापंथ समाज संगठित है, समृद्ध है, शक्ति सम्पन्न है, क्रियाशील है। इसमें प्रबुद्ध, चिंतनशील और समर्पित व्यक्तियों का अभाव नहीं है। सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं हो रहा है, जिसका होना अत्यंत आवश्यक है। न होने के कई कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण है—समाज पर किसी व्यक्ति या संस्था की पकड़ का न होना।

प्राचीन समय की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में एक मुखिया होता था। उसका अनुशासन सबको हृदय से मान्य होता था। परिस्थितियां बदलीं। सामाजिक अनुशासन प्रभावहीन बन गया। परिवार का मुखिया अपने परिवार को नियंत्रण में नहीं रख सका। ऐसे समय में अपसंस्कृति ने जीवन में घुसपैठ शुरू कर दी। खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, दिनचर्या, रात्रिचर्या-सब कुछ बदल गया। कोई किसी को कहने वाला नहीं, कोई सुनने वाला नहीं।

सभाओं के लिए कार्यक्रम

बीसवीं सदी का आंचल अनेक परिवर्तनों से भरा है। पुराना छूटता जा रहा है, नया आता जा रहा है। जो छूट रहा है, उसमें अवांछित के साथ-साथ वांछित भी छूट रहा है। जो नया आ रहा है, उसमें वांछित के साथ अवांछित भी घुस रहा है। वांछित को जाने से रोकने और अवांछित को आने से टोकने वाला नियंत्रणकक्ष खाली पड़ा है। प्रत्येक क्षेत्र की तेरापंथी सभा उस नियंत्रण कक्ष की कुर्सी पर आसीन हो। वह पूरी सतर्कता के साथ निगरानी रखे और समय-समय पर घंटी बजाकर संबंधित व्यक्ति या वर्ग को सावधान करती रहे। कुछ ऐसे बिंदुओं को आलेखित किया जा रहा है, जिनकी ओर सभाओं को विशेष रूप से ध्यान देना है—

- धार्मिक और सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ने वाले व्यक्ति या समूह पर अंगुलि-निर्देश।
- संस्कृति के विरुद्ध ले जाने वाली प्रवृत्ति पर नियंत्रण।
- शादी-विवाह, जन्म-मृत्यु, पर्व-त्योंहार आदि प्रसंगों में जैन संस्कार-विधि का सम्यक् नियोजन।
- युवापीढ़ी के खान-पान में घुलती जा रही अशुद्धि को दूर करने के लिए उसके हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया।
- सामाजिक कुरूढ़ियों के बारे में सशक्त वातावरण का निर्माण कर सामाजिक आचार-संहिता का निर्धारण।
- आचार-संहिता का अतिक्रमण होने की स्थिति में प्रायश्चित्त का निर्धारण।
- तेरापंथी सभा समाज की अंगरक्षिका का रूप धारण करे। समाज के किसी भी अंग को वह दयनीय या असहाय होने से बचाए।
- समाज की सारणा और वारणा—अच्छे कार्यों को प्रोत्साहन तथा गलत कार्यों पर नियंत्रण का दायित्व।
- साधु-साध्वियों की यात्रा, आवास, संघीय कार्यक्रम आदि की व्यवस्था में जागरूकता।
- आवश्यकता हो तो इस व्यवस्था के साथ महिला मण्डल को भी जोड़ा जा सकता है।

जहां-जहां तेरापंथी सभाएं हैं, वहां कुछ ऐसे व्यक्ति तैयार हों, जो सभाओं को हर दृष्टि से सक्षम और सक्रिय बना सकें। वे पंचवर्षीय योजना बनाकर कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित करें और इस रूप में काम करें कि उसका परिणाम सबको दिखाई दे।

सद्भावना से मिलती है सफलता

तेरापंथी महासभा देशभर की सभाओं के साथ संवैधानिक रूप से जुड़ चुकी है, ऐसा ज्ञात हुआ है। वर्तमान में महासभा का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में है, जो धार्मिक एवं संघ के प्रति समर्पित तो हैं ही, गहरी सूझबूझ और सक्रियता रखने वाले हैं। उनको समाज की चिंता है और समाज पर उनका प्रभाव बढ़ रहा है। उनकी टीम भी जागरूक है। ऐसी स्थिति में महासभा के प्रति विश्वास और आशा का भाव जागना अस्वाभाविक नहीं है। समाज के विश्वास को सुरक्षित रखकर उसकी आशा के अनुरूप काम होने से संस्था और समाज, दोनों का भविष्य सुंदर हो सकता है।

महासभा का कार्यालय कलकत्ता में है, लाडनूं में भी है। 'जैनविश्व भारती' परिसर में कार्यालय होने से पूरे समाज के साथ इसका सीधा संपर्क बढ़ रहा है। दूरी में कुछ भ्रांतियां हो सकती हैं। साक्षात्कार से भ्रांतियां टूटती हैं और सद्भावनाएं बढ़ती हैं। जिस संस्था को समाज की सद्भावनाएं मिले, उसकी सफलता में संदेह को अवकाश नहीं रहता। ❐

A bird sitting on a tree is not afraid of the branch shaking or breaking because trust not on the branches but on its wings. So believe in yourself and fly high.

एक वृक्ष पर बैठा हुआ पक्षी वृक्ष की शाखाओं के हिलने व टूटने से भयभीत नहीं है, क्योंकि उसका विश्वास वृक्ष की शाखाओं पर नहीं है अपितु अपने पंखों पर है। अतः स्वयं पर किया गया विश्वास ही देश के विकास का निर्माण करता है।

क्या अपरिग्रह को अच्छा माननेवाले परिग्रह से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं? शायद कभी नहीं करते। उनकी लालसा तो परिग्रह की ओर रहती है कि आज अगर दस लाख पास में हैं तो अगले वर्ष बीस लाख हो जाएं। वह भी दूसरों के लिए नहीं, केवल अपने स्वार्थ के लिए और अपने भोग के लिए। उनकी अभिमुखता परिग्रह की ओर है और वे अपरिग्रह के सिद्धांत की रटन लगाते रहते हैं। अहिंसा की बातें करने वाले बहुत लोग मिलते हैं, किंतु क्या उन्होंने अहिंसा को ठीक से समझा है? अगर आज कोई यह प्रमाणित कर दे कि गीता में, उत्तराध्ययन में यह लिखा है कि हिंसा करना भी धर्म है, संभवतः वे मान लेंगे। उनके लिए अहिंसा धर्म है या हिंसा करना भी धर्म है, इसमें कोई फर्क नहीं है। यदि कोई शास्त्रों से प्रमाणित कर देता है तो वह बात उन्हें मान्य है।

धर्म की समस्या : धार्मिक का खंडित व्यक्तित्व

आचार्य महाप्रज्ञ

दुनिया में बहुत सारे वादे और विवाद चल रहे हैं। सत्य को पाने के लिए सब वाद-विवाद प्रयत्नशील हैं, परंतु क्या किसी ने सत्य को प्राप्त किया है? कोल्हू का बैल कोल्हू के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। घंटों तक गतिशील रहने पर भी वह आगे नहीं बढ़ पाता। ठीक यही दशा वादों और विवादों की है। वादों और विवादों के द्वारा किसी ने भी सत्य नहीं पाया। तब प्रश्न आया कि क्या करना चाहिए? सत्य के लिए वादों के अखाड़े छोड़ दो, वादों के संघर्ष को छोड़ दो और अध्यात्म का अनुचिंतन करो।

अध्यात्म

अध्यात्म कोई वाद नहीं है। अध्यात्म सबसे अलग रहनेवाली वस्तु नहीं है। अध्यात्म किसी पाताल-लोक में बसनेवाली वस्तु भी नहीं है। किसी भी वस्तु की गहराई में चले जाइए। वहां अध्यात्म का स्पर्श हो जाएगा। समुद्र को सामने से देखते हैं तो पानी दिखाई देता है। आस-पास से कुछ छोटे-मोटे केकड़े आदि जानवर दिखाई देते हैं। मछलियां भी तैरती हुई दिखाई देंगी। शंख, सीप आदि भी मिल जाते हैं। क्या समुद्र यही है? यह तो समुद्र का दीखने वाला बाहरी रूप है। समुद्र की गहराई में गये बगैर छिपे रत्नों से परिचित नहीं हुआ जा सकता। सामान्यतः लोगों की दृष्टि वस्तु के बाहरी आकार को ही देखती है। धार्मिक लोगों के जीवन में जो परिवर्तन नहीं आता, उसका मूल कारण यही है कि वे धर्म के बाहरी तल का स्पर्श करते हैं, उसकी गहराई तक नहीं जा पाते। आज वैज्ञाजिकों ने चंद्रलोक में मनुष्य को उतार दिया। कैसे उतारा? इसलिए कि वे अध्यात्म तक पहुंचे, उस चीज की गहराई तक पहुंचे। अध्यात्म का अर्थ होता है भीतर में होनेवाला—इस पंडाल के भीतर होनेवाला, इस भूमि के भीतर होनेवाला, हमारे शरीर के भीतर होने वाला। किसी भी वस्तु के भीतर होनेवाला जो है, वह अध्यात्म है।

मान्यता और व्यवहार

धर्म की गहराई में कौन जाता है? व्यक्ति मानता कुछ है और करता कुछ है। एक ओर मान्यता है और दूसरी ओर सारा व्यवहार है। व्यक्ति की कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं, जो उसके शरीर के साथ, मन और भावनाओं के साथ जुड़ी हुई हैं। वे मौलिक वृत्तियां एक ओर हैं और दूसरी ओर उसकी मानी हुई या जानी हुई बातें हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के समान है, यह हम मानते हैं, किंतु क्या इसकी अनुभूति हमें है? यदि इस बात की अनुभूति हो जाए कि हर आदमी एक-दूसरे के समान है, आत्मतुल्य है, प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा के समान है, तो फिर कोई आदमी किसी को नहीं सता सकता, किसी का शोषण नहीं कर सकता, किसी को हीन और दीन नहीं मान सकता, किसी को नीच और उच्च नहीं मान सकता। ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति है ही कहां? केवल रटी-रटाई बातें दुहराई जाती हैं।

शास्त्रों की दुहाई

आप धार्मिक लोगों को देखिए और उनसे पूछिए कि एक आदमी दूसरे आदमी के समान है, इसका प्रमाण क्या है? कोई कहेगा कि गीता में ऐसा लिखा है। जैन कहेगा कि उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है। बौद्ध कहेगा कि धम्मपद में लिखा है। कोई बाइबिल की दुहाई देगा और कोई कुरान की दुहाई देगा। न जाने किस-किस ग्रंथ की दुहाई आएगी। सबका एक ही उत्तर होगा—शास्त्रों में लिखा है, इसलिए मान रहे हैं, हमारा कोई ऐसा अनुभव नहीं है। जब तक हम दूसरे का भार सिर पर ढोएंगे, केवल शब्दों का भार ढोते रहेंगे तो यह द्वंद्व कभी मिटने वाला नहीं है। यह द्वंद्व रहेगा कि हम मानते कुछ चले जाएंगे, कहते कुछ चले जाएंगे और करते कुछ चले जाएंगे। हमारी क्रिया में और हमारे सिद्धांत में अद्वैत तभी आएगा जब वह सत्य हमारे जीवन में अनुभूत हो जाए।

पंडितों का संसार

धर्म वास्तव में प्रयोग की वस्तु थी, अभ्यास की वस्तु थी। आज धर्म का प्रयोग कहां है? धर्म तो इतना रूढ हो गया और शास्त्रों की वासना में इतना जकड़ दिया गया है कि सचमुच! धर्म के लिए जीवन में कोई अवकाश नहीं है। शंकराचार्य ने ठीक ही लिखा है—बहुत सारी वासनाएं होती हैं, किंतु सबसे भयंकर वासना है शास्त्रों की। एक बहुत बड़े जैनाचार्य पूज्यपाद हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि जो संसारी लोग होते हैं उनमें पुत्र की वासना, पत्नी की वासना, परिवार की वासना होती है, धन की वासना होती है। जो पंडित बन जाते हैं उनमें शास्त्रों की वासना हो जाती है। उनका घर संसार होता है, पंडितों का शास्त्र संसार होता है। दोनों अपने-अपने संसार की सृष्टि कर लेते हैं। मुक्त होनेवाला कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कैसे आशा करें कि मनुष्य की समझ में धर्म आ जाए?

अपेक्षित है प्रयोग

आवश्यकता है अनुभूति की और प्रयोग की। जो प्रयोग की प्रक्रिया चले, उससे हम यह जानने का प्रयत्न करें कि यह क्या है? एक धार्मिक व्यक्ति एक सिद्धांत को दस-बारह वर्ष की उम्र से दोहराना शुरू करता है और दोहराते-दोहराते मर जाता है, पर वह अनुभव नहीं करता। शास्त्रों के प्रति हम न्याय तब कर सकते हैं जब शास्त्र हमारे लिए एक पूर्व-मान्यता के रूप में आएं। जैसे एक वैज्ञानिक पूर्व-मान्यता को लेता है। न्यूटन ने देखा कि सेव गिर रहा है, उसके लिए सेव का गिरना एक शास्त्र बन गया। किंतु क्या सेव गिर रहा है, इतने मात्र से उसे ज्ञान हो गया? उसने प्रयोग किया, उसका परीक्षण किया और परीक्षण करके सिद्धांत की स्थापना की पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण है। उस सेव का गिरना उसके लिए शास्त्र था, पूर्व मान्यता थी। वैसे ही अहिंसा अच्छी है, ब्रह्मचर्य अच्छा है, अपरिग्रह अच्छा है, यह हमारी पूर्व मान्यता है। हम शास्त्रों में पढ़ लेते हैं और उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

क्या अपरिग्रह को अच्छा माननेवाले परिग्रह से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। शायद कभी नहीं करते।

उनकी लालसा तो परिग्रह की ओर रहती है कि आज अगर दस लाख पास में हैं तो अगले वर्ष बीस लाख हो जाएं। वह भी दूसरों के लिए नहीं, केवल अपने स्वार्थ के लिए और अपने भोग के लिए। उनकी अभिमुखता परिग्रह की ओर है और वे अपरिग्रह के सिद्धांत की रटन लगाते रहते हैं। अहिंसा की बातें करने वाले बहुत लोग मिलते हैं, किंतु क्या उन्होंने अहिंसा को ठीक समझा है? अगर आज कोई यह प्रमाणित कर दे कि गीता में, उत्तराध्ययन में यह लिखा है कि हिंसा करना भी धर्म है, संभवतः वे मान लेंगे। उनके लिए अहिंसा धर्म है या हिंसा करना भी धर्म है, इसमें कोई फर्क नहीं है, यदि कोई शास्त्रों से प्रमाणित कर देता है तो वह बात उन्हें मान्य है। अस्पृश्यता सैकड़ों वर्षों से, हजारों वर्षों से चली आ रही थी, किंतु इन पचास वर्षों से बहुत वाद-विवाद से गुजरी। क्यों गुजरी? इसलिए कि बहुत लोग यह जानते थे—अछूतता, अस्पृश्यता तो शास्त्रों के द्वारा सम्मत चीजें हैं।

गरीबी क्यों पल रही है?

हिंदुस्तान में गरीबी क्यों पल रही है? बहुत सारे लोगों के दिमाग में यह घुसा हुआ है। जो गरीब हैं उनके दिमाग में भी और उच्चवर्ग के हैं उनके दिमाग में भी—धनवान बनने में भाग्य का फल भोगता है, अपने कर्मों का फल भोगता है। ईश्वर की सृष्टि ही ऐसी है। भला उसे कौन अन्यथा कर सकता है! यदि यह मिथ्या धारणा न होती तो गरीबी को मिटाने में और अधिक त्वरता आती।

आज भी इस भाग्यवादी और कर्मवादी धारणा के द्वारा पुरुषार्थ की आग पर राख-सी आई हुई है। वह जलती चली जा रही है। देखते हैं और सुनते भी हैं, बहुत साधारण लोगों को ऐसा कहते हुए—क्या करें! हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था, दूसरा कोई क्या करे। स्वयं की कोई प्रेरणा नहीं है। उसके पीछे एक मान्यता बोल रही है। दूसरे में शास्त्रीय वाक्यों का आवरण है। व्यक्ति को जहां धर्म की गहराई तक, अध्यात्म तक पहुंचाना चाहिए था, नहीं पहुंच रहा है और इसीलिए परिवर्तन नहीं आ रहा है। यदि आध्यात्मिकता आ जाए तो शायद ऐसा नहीं होगा।

विनोबा बहुत बार कहते—अब धर्म की जरूरत नहीं है। एक विज्ञान रहेगा और एक अध्यात्म रहेगा। दो ही चीजें रहनी चाहिए। इसमें बहुत सचाई है, क्योंकि धर्म क्रियाकांडों का जमघट-सा हो गया है। अन्ना साहब आचार्यश्री के पास आए। उन्होंने कुछेक प्रश्न रखे। उन्होंने कहा—धर्म के विषय में आज की धारणा ऐसी बन गई है कि उसमें परिवर्तन लाने की बात नहीं रह गई है। आचार्यश्री ने कहा—मैं इसे स्वीकार करता हूं, क्योंकि धर्म इतना रूढ़ हो गया है कि अब उसमें अवकाश नहीं रहा है कि कुछ किया जा सके। धर्म था सत्य की शोध के लिए परंतु असत्य का पोषण करने में आज की धर्मवादी धारणा का बहुत बड़ा हाथ है अन्यथा ये राजनैतिक और ये समाजनैतिक यह अलगाव नहीं होता। आज एक राजनैतिक व्यक्ति अपने को धार्मिक क्यों नहीं मानता? और एक धार्मिक व्यक्ति राजनीति और समाजनीति से सर्वथा अछूत कैसे रह सकता है? इनकी संबद्धता है। मनुष्य के एक ही व्यक्तित्व में धर्म, अर्थ, समाज आदि सारी चीजें एक रस होकर गुजरती हैं।

जीवन का द्वैध

उनका प्रश्न था—आज आदमी दो घंटा उपासना कर लेता है और फिर वह छुट्टी पा लेता है। वह समझता है कि अब तो सारा दिन काम करने के लिए है।

मैंने कहा—गुरुदेव ने बहुत मार्मिक शब्दों में इस पर लिखा है। उसका आशय है कि एक ही आदमी एक घंटा तो भक्त प्रह्लाद बन जाता है और दूसरे घंटे में हिरण्यकश्यप बन जाता है। देखनेवाला समझ नहीं पाता कि जब उसे पूजा के स्थान में, मंदिर में, धर्मस्थान में साधुओं के पास देखता है तो कल्पना करता है कि शायद प्रह्लाद भी ऐसा भक्त हुआ था या नहीं। उसी व्यक्ति को जब आफिस में, कार्यालय में, दुकान में देखता है तो कल्पना करता है कि शायद हिरण्यकश्प भी इतना क्रूर हुआ था या नहीं। एक ही व्यक्ति में एक

ही दिन में जो इतना द्वैध मिलता है उसके जीवन में धर्म कहां है? गुरुदेव इस विषय में कहा करते हैं—एक होता है श्वास और एक होता है भोजन। हम समूचे दिन भोजन नहीं करते। दिन में दो बार खाते होंगे। कोई चार बार भी खा लेता होगा। चाय-कॉफी पीनेवाले पांच-सात बार खा-पी लेते होंगे। आखिर यह तो नहीं है कि निरंतर खाते ही रहते हैं। यदि निरंतर खाते ही रहेंगे तो बीमार पड़ जाएंगे, किंतु क्या सांस लिए बिना रह सकते हैं? कहा जाए—पांच मिनट सांस मत लो तो शायद नहीं रह सकेंगे। दो मिनट रहना भी बड़ा कठिन है।

हमारा धर्म श्वास की तरह हो। अध्यात्म हमारा श्वास है और उपासना, पूजा-पद्धतियां, क्रियाकांड— ये हमारे भोजन हैं। एक आदमी पूजा में, जप में, क्रियाकांड में आधा घंटा लगा सकता है, एक घंटा लगा सकता है। इतना निकम्मा तो नहीं कि सारा दिन ही पूजा में लगाए। यदि सारा दिन लगा दे तो वह आर्थिक हानि से दब जाएगा। सामाजिक दृष्टि से पिछड़ जाएगा। ज्ञान-विज्ञान और भौतिक क्षेत्र में पिछड़ जाएगा। ऐसा हिंदुस्तानी लोगों में हुआ है कि एक ओर तो बाहर शत्रुओं का आक्रमण होता रहा है और दूसरी ओर जो उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति थे, स्वयं पूजा-उपासना में बैठे रहे। यह भला कैसी पद्धति है, समझ में नहीं आती।

जीवन का मूल धर्म

धर्म शाश्वत है। वह हमारे श्वास की तरह है, जो निरंतर होना चाहिए। दो घंटा तो मैं प्रामाणिक हूं, शेष घंटा प्रामाणिक नहीं। मंदिर में जाता हूं साधुओं के स्थान पर आता हूं तो प्रामाणिक हूं और जब मैं दुकान पर जाता हूं तब धार्मिक भी नहीं हूं और प्रामाणिक भी नहीं हूं। यह धर्म की सबसे बड़ी हत्या और सबसे बड़ी मखौल है। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि हमने उपासना को ही धर्म मान लिया। आचरण को धर्म नहीं माना और शाश्वत धर्म को नहीं पहचाना। उसका ही यह परिणाम है, अन्यथा होना यह चाहिए कि कोई व्यक्ति उपासना कर सके या न कर सके, किंतु कम-से-कम श्वास तो लेता रहे, जिससे वह जीवित रह सके। हमारे जीने की यह प्रक्रिया थी। हमारी जो श्वास लेने की प्रक्रिया थी। प्राण भरने की प्रक्रिया थी, उसे तो हमने भुला दिया और केवल ऊपरी भोजन पर सारा निष्कर्ष निकाल दिया। यही कारण है कि आज धर्म के द्वारा जो होना चाहिए, वह नहीं हो पा रहा है। यदि ऐसा हो जाए तो हमारे जीवन का मूल धर्म बने और नियम-उपासना हमारे जीवन का गौण धर्म बने तो जीवन की सही प्रतिष्ठा हो सकती है। ❐

भौतिक सुखों में आनंद कहां?

मनुष्य संसार के भौतिक सुखों में आनंद खोजता है जबकि वास्तव में आनंद बहुत ऊंचे स्तर यानी राग-द्वेष से मुक्त अवस्था में ही मिलता है। उस आनंद की सुख रूपी घर की परछाई संसार में दिखती है मगर बहुत परिश्रम के बाद भी इस संसार के दलदल में वह हाथ नहीं लगती है। जैसे एक पेड़ पर टंगे हार की परछाई नदी में दिखती है मगर हाथ डालने पर पानी हिल जाता है। परछाई गायब हो जाती है। उसको पाने के लिए कड़ी साधना करनी पड़ती है, कषायों को नष्ट करना होता है, तभी आनंद प्राप्त हो सकेगा व मन को शांति मिलेगी।

कार्यकर्ता के मौलिक गुण

आचार्य महाश्रमण

जैन साहित्य में मूल गुण और उत्तर गुण, दो शब्द मिलते हैं। मूल गुण वे होते हैं, जिनके बिना व्यक्ति का काम नहीं चलता। जीवन में उनकी अनिवार्यता होती है और उत्तर गुण वे होते हैं जो मूल गुणों को परिपुष्ट करते हैं। एक डॉक्टर को अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा ज्ञान के अभाव में वह सफल डॉक्टर नहीं हो सकता। इसी प्रकार कार्यकर्ता में भी कुछ मौलिक गुण होने चाहिए, जिससे 'कार्यकर्ता' नाम उसके लिए सार्थक हो सके।

कार्यकर्ता एक समस्त पद है। पद विभाजन करने से दो शब्द हो जाते हैं–कार्य और कर्ता यानी काम करने वाला। शाब्दिक अर्थ है–काम करने वाला। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो कुछ भी काम नहीं करता। आदमी खाता है, पीता है, सोता है, अपने परिवार के लिए कमाई करता है, पढ़ता है, लिखता है, यह सब काम है और काम करनेवाला कार्यकर्ता है। इस शाब्दिक अर्थ से तो ऐसा कोई व्यक्ति मिलना कठिन होगा, जो कार्यकर्ता न हो, किंतु कार्यकर्ता शब्द के अर्थ में हमें कुछ और जोड़ देना चाहिए।

वह व्यक्ति कार्यकर्ता होता है जो औरों के लिए काम करता है। कार्यकर्ता की पहली विशेषता या पहला मौलिक गुण होता है कि उसमें परार्थ की भावना होती है। श्रद्धेय आचार्य प्रवर के प्रवचन से तीन शब्द प्राप्त होते हैं—स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ। काम करने के तीन उद्देश्य होते हैं—अपने लिए, दूसरों के लिए या फिर परम-मोक्ष के लिए।

एक कार्यकर्ता में परमार्थ के लिए काम करने की भावना हो या न हो, पर कम से कम परार्थ भावना अवश्य हो, दूसरों के लिए कुछ करनेवाला हो। यह विशेषता उसमें अवश्य होनी चाहिए। इसे भले परार्थ भावना कह दें या फिर दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो सेवा-भावना कह दें, पर कल्याण महान सेवा है।

सेवा-भावना के बिना कार्यकर्ता की कर्तृत्व-शक्ति का आधार ही नहीं होता है। कार्यकर्तृत्व का आधार है सेवाभावना और सेवाभावना संवेदनशीलता के साथ जुड़ी हुई है। यदि संवेदनशीलता नहीं है, दूसरों के सुख-दुःख को या कठिनाइयों को अनुभव करने की जिसमें चेतना विकसित नहीं है, वह परार्थ कुछ नहीं कर सकता और जो दूसरों की कठिनाइयों का संवेदन करता है, उसे समझता है, पहचानता है, जानता है, कुछ करने की भावना जागती है तो वह सच्चे अर्थों में कार्यकर्ता कहलाता है।

जो व्यक्ति जीवन में विशिष्ट कार्य करता है तो कठिनाइयां भी बीच में आ सकती हैं, पर कार्यकर्ता में यह विशेषता होनी चाहिए कि वह कठिनाइयों से घबराए नहीं, उन्हें साहस के साथ झेले। कितनी भी कठिनाइयां क्यों न आए, वह उन्हें पार करने का प्रयास करे।

डर की क्या बात, पथिक काली रातों में,
पथ में उजियाला होगा, लो दीपक हाथों में।
दुनिया के दीपक धोखा दे सकते हैं,
पर साहस का दीपक जलता झंझावातों में।।

कार्यकर्ता का दूसरा मौलिक गुण होना चाहिए— साहस। वह कठिनाइयां आने पर भी अपना कार्य बंद न करे, उनका आत्मविश्वास के साथ सामना करे। बहुत-सी कठिनाइयां तो अपने आप में शक्तिहीन होती हैं। व्यक्ति यदि घबराएं नहीं, कुछ आगे बढ़कर उनका मुकाबला करे तो कई बार ऐसा लगता है कि कठिनाई कुछ थी ही नहीं, हमने कल्पना से कठिनाई मान ली। वह दीखनेवाली कठिनाई अपने आप समाप्त हो जाती है।

कार्यकर्ता में साहस होना चाहिए, क्योंकि अनेक बार झूठा भय हमारे सामने होता है और हम घबरा जाते हैं। जल्दबाजी में अकरणीय कर बैठते हैं या अनहोना हो जाता है।

जो व्यक्ति काम करता है, उसकी आलोचना भी हो सकती है। भले वह व्यक्ति ढंग से अच्छा काम भी क्यों न करता हो। समाज में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनका दृष्टिकोण निषेधात्मक होता है और वे अच्छे काम करनेवाले व्यक्ति की भी कुछ-न-कुछ आलोचना करते रहते हैं। उनमें दोषों को ढूंढ़ते रहते हैं। ईर्ष्या रखनेवाले लोग काम करनेवालों की छवि को खराब करने का हर संभव प्रयास कर सकते हैं, ऐसे परिवेश में कार्यकर्ता के लिए अपने दिमाग को अप्रभावित रखना जरूरी होता है।

आलोचक आलोचना करते रहेंगे और काम करनेवाले काम करते रहेंगे, यह संतुलित सोच होना जरूरी है। आलोचना के विषय में तटस्थ चिंतन करें। उपयोगी लगे, जो सच्ची लगे, उसको मूल्य दें, शेष सबको छोड़ दें, यह विवेक-चेतना अवश्य जागे। एक अच्छा कार्यकर्ता अनावश्यक निंदा सुनकर कभी अपना संतुलन नहीं खोता और न अपने दिमाग को बोझिल व तनावग्रस्त करता है। कार्यकर्ता में इतना विकास होना चाहिए कि आलोचना करनेवालों के प्रति भी विरोध का भाव न रखे, मन में मैत्री का भाव जगाए। इस संदर्भ में मेरा ऐसा मत है कि जब दूसरे लोग झूठी आलोचना करते हैं, उस समय व्यक्ति यदि तटस्थ रहता है, संतुलित रहता है तो आज के आलोचक कल उसके प्रशंसक बन सकते हैं।

व्यक्ति का यदि रास्ता सही है, काम सही है तो आलोचना करने वाले भी समय आने पर समर्थक और अनुकूल बन सकते हैं। कार्यकर्ता का तीसरा मौलिक गुण होना चाहिए—सहिष्णुता।

संस्थाओं के साथ जुड़े कार्यकर्ता के प्रति समाज का विश्वास होना जरूरी है। उसके लिए आवश्यक है—कार्यकर्ता प्रामाणिक हो। यदि उसमें प्रामाणिकता नहीं है तो कार्यकर्ता में सबसे बड़ी कमी रह जाती है। कार्यक्षमता होने के बावजूद अप्रामाणिकता की कोई छोटी-सी कमी यदि सामने आ जाती है तो समाज का उसके प्रति विश्वास उठ जाता है। संस्थाओं/सभाओं/परिषदों का अपना निजी आर्थिक कोष होता है। उसमें कार्यकर्ता यदि कोई घोटाला जैसी बात कर दे तो वह उसके जीवन में एक लांछन लग जाता है और वह समाज का विश्वास खो देता है। इसलिए कार्यकर्ता में ईमानदारी और प्रामाणिकता होनी चाहिए।

मैंने एक बार किसी पत्र या पुस्तक में पढ़ा था कि बनारस विश्वविद्यालय के कुलपति थे 'नरेंद्र देव।' एक बार वे रिक्शे में बैठकर कहीं जा रहे थे। उन्हें रिक्शे में बैठा देख एक आदमी ने कहा—'कुलपति महोदय! आप रिक्शे में बैठकर यात्रा क्यों करते हैं?' उन्होंने कहा—'भाई! कार में यात्रा करूं, उतना पैसा मेरे पास नहीं है।'

'आप क्या बात करते हैं, आप तो कुलपति हैं, युनिवर्सिटी की ओर से आपको कार प्राप्त है, फिर आप कार का उपयोग क्यों नहीं करते?' नरेंद्र देव ने कहा—'महाशय! मुझे कार मिली है, वह विश्वविद्यालय के कार्यों के लिए मिली है, निजी कार्यों के लिए नहीं।' यह है प्रामाणिकता की भावना।

किसी संस्था के पदाधिकारी हो या अन्य किसी बड़े ओहदे पर कोई कार्यकर्ता हो, समाज उस पर विश्वास करता है, तो समाज के प्रति कार्यकर्ता का भी दायित्व है कि वह समाज के विश्वास को बनाए रखे। और वह तब बनाए रख सकता है जब उसके जीवन में प्रामाणिकता तथा ईमानदारी की भावना हो। समाज का एक भी पैसा व्यक्तिगत काम में कभी खर्च न हो जाए, पूरी प्रामाणिकता का ध्यान रखे। अतः कार्यकर्ता का चौथा मौलिक गुण है–प्रामाणिकता।

व्यक्ति जिस क्षेत्र में काम करता है उस क्षेत्र की दक्षता, कार्यक्षमता उसमें होनी जरूरी है। किसी संस्था का पदाधिकारी है तो संस्था का संचालन करने की क्षमता उसमें होनी चाहिए। दक्षता निसर्गतः भी होती है और अर्जित भी। यदि व्यक्ति में निसर्गतः क्षमता न हो तो अभ्यास प्रशिक्षण के द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। उस क्षेत्र में योग्य बनने के लिए या तो ऐसे प्रशिक्षण केंद्र में भाग ले या इस तरह के साहित्य पढ़े जो उस क्षेत्र के कार्यों के अनुकूल हो, काम करने का दिशानिर्देशन देने वाला हो या ऐसे लोग जिन्होंने उस क्षेत्र में काम किया है, उन के अनुभवों का उपयोग करे तो भी व्यक्ति उस क्षेत्र में कार्यक्षम बन सकता है। यद्यपि सब कार्यकर्ता एक समान नहीं होते। कुछ में अधिक कार्यक्षमता होती है, कुछ में कम होती है, फिर भी कार्यकर्ता का लक्ष्य रहे कि मैं अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाता रहूं।

कार्यक्षमता हो, पर कार्य में परिश्रम करने की भावना न हो, श्रमशीलता न हो तो भी कार्यकर्ता में अधूरापन-सा रह जाता है। कार्यकर्ता तो सेवक होता है, उसे तो रात को बारह बजे भी जरूरत पड़े तो काम के लिए तैयार रहना होता है। अध्ययन के क्षेत्र में कहा गया है— 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।'

सुखार्थी के लिए विद्या नहीं होती और जो विद्यार्थी होता है उसे सुख, सुविधा, आराम नहीं मिलता। मैं थोड़ा-सा इसमें परिवर्तन इस प्रकार करना चाहता हूं कि 'सुखार्थिनः कुतः कार्यम्, कुतः कार्यार्थिनः सुखम्।

जो कार्यार्थी है उसे सुख, आराम सुलभ कहां? और जो सुख, आराम से रहना चाहेगा वह काम कैसे कर पाएगा? संस्कृत में एक बहुत अच्छा श्लोक है कि जो काम करनेवाला होता है, वह कैसा होना चाहिए, कितना श्रमशील और कष्ट सहिष्णु होना चाहिए—

क्वचिद्भूमौशयाः क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्,
क्वचिद्कंथाधी क्वचिदपि च माल्यांबरधरः।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखम् न च सुखम्।।

जो मनस्वी और कार्यार्थी व्यक्ति होता है उसको सब स्थितियां सहनी पड़ती हैं। कहीं गया, सोने के लिए अच्छा स्थान मिल गया, उसका उपयोग किया जा सकता है। कहीं सोने का अच्छा स्थान न मिला तो संतोष कर लिया। कहीं खाने के लिए अच्छा भोजन मिल गया तो भी संतोष, कहीं अच्छा भोजन न मिला तो भी संतोष। कहीं अच्छे कपड़े भेंट में आ गए, मालाएं पहना दी गईं, शाल्यार्पण कर दिया गया तो भी ठीक है, कहीं पूरा सम्मान न मिला तो भी ठीक है यानी ऐसी स्थितियों में अपने आपको सम रखने की जरूरत है। साधना करता हुआ जो व्यक्ति चलता है, वह काम में आगे बढ़ सकता है और मेरा तो ऐसा लगभग विश्वास है कि जो व्यक्ति सच्चे दिल से सेवा करता है, सच्चे दिल से काम करता है, कभी-न-कभी समाज अवश्य उसका मूल्यांकन करता है और मुझे वह पंक्ति इस प्रसंग में भी याद आती है कि 'देर भले, अंधेर नहीं।'

कार्यकर्ता के मन में कुछ समता की साधना होनी चाहिए कि सब स्थितियों को झेलते हुए भी वह अपनी सेवाएं देता रहे। कार्यकर्ता का यह छठा मौलिक गुण है– परिश्रमशीलता।

कार्यकर्ता में एक मौलिक गुण होना चाहिए— विनम्रता का। कार्यकर्ता सबको साथ लेकर चले। विरोध में भी विवाद को न उठने दे। सामंजस्य की भावना हो। जब अमेरिका के लोगों ने अपने देश को आजाद कराने का फैसला लिया, तो मुक्ति सेना का किसी को

मुखिया, सेनापति बनाना था, मीटिंग बुलाई गई। उसमें बड़े-बड़े व्यक्ति थे, विद्वान, युद्ध-कुशल। उनमें एक था जार्ज वाशिंगटन। वाशिंगटन की अपेक्षा और अन्य लोग काफी बड़े-बड़े थे, पर सबने मिलकर जार्ज वाशिंगटन को मुक्ति सेना का मुखिया चुना। क्यों? बताया गया कि उसका मुख्य कारण यह था कि जार्ज वाशिंगटन एक शांत प्रकृति का आदमी था। निरभिमानी, विनम्र स्वभावी, संतुलित प्रकृति का आदमी था। उसको लेकर किसी के मन में कोई वैमनस्य का भाव नहीं था, सबके मन में उसके प्रति सद्भावना थी।

जब दूसरों के मन में ईर्ष्या होती है, तो वहां मुखिया बनाने में कई कठिनाइयां होती हैं, पर जो अजातशत्रु व्यक्ति हो, उसको सब चाहते हों तो उसको मुखिया बनाने में, उसका चयन करने में कोई खास दिक्कत नहीं आती है। तो सबने मिलकर जार्ज वाशिंगटन को अपनी मुक्ति सेना का मुखिया बना लिया और अमेरिका के स्वतंत्र होने के बाद देश का प्रथम राष्ट्रपति भी जार्ज वाशिंगटन को चुना गया।

पदाधिकारी अपने आप में बड़ा कुशल है, काम करने में सक्षम है, पर सबको साथ लेकर चलने की क्षमता नहीं है तो भी वह व्यक्ति अपने आप में पूर्ण सफल नहीं हो सकता। तो एक अच्छे कार्यकर्ता में सबको साथ लेकर चलने की भी ताकत होनी चाहिए। जिसमें विनम्रता होती है, अनेकांत शैली होती है और सामंजस्य भावना होती है वह सफल होता है। अतः कार्यकर्ता का सातवां मौलिक गुण है—विनम्रता।

ये सात गुण जिस कार्यकर्ता में आ जाते हैं, वह एक सफल कार्यकर्ता बन सकता है। कार्यकर्ता में ऐसी मौलिक विशेषताएं होती हैं तो निःसंदेह हमारा समाज तेजस्वी, गौरवशाली एवं एक आदर्श समाज बन सकता है। तेरापंथ का हर कार्यकर्ता श्रावक-कार्यकर्ता हो। उसमें श्रावकत्व भी बोलना चाहिए। ❒

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती

एक संपूर्ण पत्रिका है।

वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती

पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

महिला-विकास के पायदान

□□

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

भारतीय नारी की प्रतिमा एक आदर्श नारी के रूप में उकेरी हुई प्रतिमा है। वह शक्ति, समृद्धि और बुद्धि की संवाहिनी के रूप में प्रसिद्ध है। उसके इन तीनों रूपों की दुर्गा, लक्ष्मी एवं सरस्वती के रूप में पूजा होती है। निःस्वार्थ त्याग, सहज समर्पण, जागृत विवेक, निश्छल ममता और सचेतन सहिष्णुता आदि उसके ऐसे गुण हैं, जिनसे अभिमंडित होकर वह अपनी चारित्रिक आभा को और अधिक प्रखर बना लेती है। उसके स्वभाव में मृदुता तैरती है और व्यवहार में विनम्रता झलकती है। ऐसी महिला घर की शोभा ही नहीं होती, घर को स्वर्ग बनानेवाली होती है। घर की व्यवस्था और सौंदर्य भी महिला के कुशल और अनुभवी हाथों पर निर्भर है। शायद इसी बात से प्रेरित होकर लिखा गया है—'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते।' ईंटों और चूने से, पत्थरों और सीमेंट से बना हुआ घर वास्तव में घर नहीं कहलाता। घर है स्त्री का दूसरा नाम। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस घर में गृहिणी सुघड़ है, वही घर व्यवस्थित घर का रूप ले सकता है। इस सत्य को वे पुरुष अच्छी तरह से महसूस करते हैं, जिनकी पत्नी कुछ समय के लिए मायके चली जाती है अथवा जिनको पत्नी का वियोग सहना पड़ता है। यदि वे पूरी ईमानदारी के साथ अपनी स्थिति का विश्लेषण करें तो उन्हें अपना समूचा घर अव्यवस्थित दिखाई देने लगता है।

घर और परिवार में स्त्री जितनी आवश्यक है, वह परिवार का उतना ही उपेक्षित पात्र है। पति या पुत्र सक्षम हो, आर्थिक दृष्टि से उनके सामने कोई समस्या न हो और उनके मन में पत्नी या मां के प्रति अपने कर्तव्य की भावना प्रखर हो तब तो स्त्रियों को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार मिल जाता है। अन्यथा भारतीय नारी इतनी बेचारी और निरीह बनकर रह जाती है कि परिवार में किसी के साथ उसकी भावनात्मक साझेदारी नहीं रहती। एक नौकरानी का दिनभर मेहनत करना और उसके बदले में रोटी, कपड़े की व्यवस्था पा लेना, क्या एक औरत की यही नियति है?

इतना भी तो सब औरतों को कहां नसीब होता है? जिनके पति या पुत्र के आय के स्रोत सीमित हैं, जो बच्चों की परवरिश और शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं कर सकते, उनके गुस्से का शिकार भी बहुत बार स्त्रियों को होना पड़ता है। जो पुरुष शराबी, जुआरी तथा अन्य किसी भी दुर्व्यसन के आदी होते हैं, वे कुछ दिन तो स्त्री की व्यक्तिगत संपत्ति–रुपयों और गहनों पर अपना हाथ साफ करते हैं जब उसकी संपत्ति चुक जाती है अथवा वह कुछ सावधान हो जाती है तो उस पर हाथ और डंडा भी उठ जाता है।

एक ओर अभावजनित पीड़ा, दूसरी ओर पति द्वारा गालियों की बौछार एवं मारपीट। इतना सब कुछ सहते हुए भी अधिकांश स्त्रियां दूसरों के सामने मुंह नहीं खोल पातीं। यदि उसकी किसी हितैषी को किसी स्रोत से स्थिति की जानकारी मिल जाती है और वह उसे अपने अधिकारों के लिए विद्रोह करने की बात कहती है तो वह उसे झटपट स्वीकार नहीं करती। शारीरिक एवं मानसिक यातनाएं झेलकर भी वह अपने पति को छोड़ना नहीं चाहती। पति द्वारा सताई गई ऐसी अनेक महिलाएं हैं, जो चाहती हैं कि उनकी अंतरंग व्यथा कोई जान न पाए और वे अपनी जिंदगी के बाकी दिन पति के साथ अनबोल रहकर भी एक छत के नीचे बिताएं। क्या कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति इस प्रकार की जिंदगी को स्वीकार कर सकता है?

एक ओर आततायी पुरुषों का हिंसक मनोभाव, दूसरी ओर अपनी ही सजातीय महिलाओं का मारक ईर्ष्याभाव, तीसरी ओर सामाजिक रुढियों की कारा, चौथी ओर अंधविश्वासों एवं कुसंस्कारों की चोट। चारों ओर से स्त्री जाति पर जो आक्रमण हो रहे हैं, उसकी मानसिकता क्षतविक्षत हो रही है। ऐसे समय में एक भारतीय संत के मन में करुणा का स्रोत बहा। करुणा किसी स्त्रीविशेष के प्रति नहीं, उस समग्र परिवेश के प्रति, जो मानवीय मूल्यों की हत्या के लिए जिम्मेदार अथवा उद्यत है। मूल्यहीनता की समस्या का समाधान खोजने के लिए वे संत अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में भारत के क्षितिज पर उभरे और धीरे-धीरे आचार्य तुलसी के रूप में अपनी पहचान बनाकर निर्विशेषण बन गए।

आचार्यश्री तुलसी स्वप्नद्रष्टा आचार्य हैं। उनकी आंखों में नित नए सपने तैरते रहते हैं। भारतीय महिला के बारे में भी उन्होंने एक सपना देखा। कई दशकों पहले देखा हुआ वह सपना प्रारंभिक वर्षों में सपना ही बना रहा। कुछ वर्षों बाद उसने आकार लेना शुरू किया। आज उसका पूरा रेखाचित्र बन चुका है। उसे और अधिक सजाने-संवारने एवं रंग भरने का काम अब भी शेष है। जिस दिन वह सपना पूर्णता के साथ साकार होगा, महिला जाति की छवि अपने आप उज्ज्वल हो उठेगी।

आचार्यश्री के स्वप्न में झांकनेवाले महिला समाज का चित्र इस प्रकार है—

- महिला अपने संपूर्ण व्यक्तित्व की स्वामिनी बने।
- महिला का चरित्र इतना साफ-सुथरा, उज्ज्वल और पारदर्शी हो कि उसमें पूरे जीवन का प्रतिबिंब हो सके।
- महिला भारतीय संस्कृति और धार्मिक संस्कारों की जीवंत प्रतिमा बनकर जीए।
- कोई भी महिला अशिक्षित न रहे, निरक्षर न रहे।
- देहात, गांव और ढाणी में रहनेवाली महिला भी पर्दे में न रहे।
- सामाजिक कुरूढियों और परिवार की कृतार्थ परंपराओं की भारवाहक बननेवाली कोई भी महिला न रहे।

- आभूषणों के व्यामोह और फैशन के नए-नए तेवरों से महिला को मुक्ति मिले।
- विवाहित महिला अपने पति की दासी नहीं, सहचरी या साथी की पात्रता प्राप्त करे।
- कोई भी महिला हीनभावना से कुंठित न हो।
- पति के दिवंगत जो जाने पर वियोगिनी महिला की सामाजिक या पारिवारिक स्तर पर किसी प्रकार की दुर्गति न हो।
- प्रदर्शन और अंधानुकरण की दौड़ से अलग हटकर महिला अपनी सृजन चेतना को जगाए।
- व्रत जीवन के लिए सुरक्षा कवच है, इस अवधारणा के साथ महिला अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करे।
- सामाजिक वर्जनाओं और लक्ष्मणरेखाओं को एक सीमा तक अपनी सहमति देकर महिला अपने कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाए।
- एक महिला दूसरी महिला के प्रति उदार, सहिष्णु, संवेदनशील और सहयोगी बने। कम-से-कम वह उसके विकास में बाधा न पहुंचाए।
- महिला परिवार-निर्माण योजना की संचालिका बने। इस योजना के अंतर्गत संस्कार-निर्माण, शांत-सहवास, सेवा, स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि मूल्यों को जीवनगत बनाने के कार्यक्रम करें।
- दहेज की त्रासदी से मुक्त होने के लिए महिला कोई क्रांतिकारी पग उठाए और समाज में दहेज की मूल्यहीनता को प्रस्थापित करे।
- महिला अपने आत्मविश्वास को जगाए और आत्मनिर्भर बनने की दिशा में विवेक के साथ गति करे।
- घर की दीवारों से बाहर पहचान बनाने की तड़प से पहले महिला अपने घर में अपनी अस्मिता स्थापित करे और कर्तृत्व को उजागर करे।
- महिला अपने मौलिक गुण—सहिष्णुता, विनम्रता और मृदुता को विकसित करती हुई अपने प्रति होनेवाले अन्याय का प्रतिकार करे।
- महिला अपने चारित्रिक सौंदर्य को सुरक्षित रखती हुई विकास के द्वार खोलें।
- समाज के गलत मूल्यों से संघर्ष लेकर चलनेवाली महिला किसी भी कठिन परिस्थिति में अपने आपको दुर्बल होने से बचाए।

ये कुछ ऐसे सूत्र हैं, जो भारतीय नारी की एक समग्र छवि का अंकन कर सकते हैं और उसे गौरव की दीप्ति से चमका सकते हैं। आचार्यश्री के सपनों में उभरता हुआ यह महिला समाज जिस क्षण इस रूप में ढल जाएगा, वह क्षण महिला को महिला होने की सार्थकता का बोध दे सकेगा। ❐

धर्म का धंधा

आज धर्म भी एक धंधा है,
धंधा होकर भी अंधा है।
इस धंधे में होती है सौदेबाजी,
यहां भगवान को भी रिश्वत दी जाती है।
एक रुपए और नारियल में,
पास कराने की गारंटी ली जाती है।
एक-दो परसेंट की पार्टनरशिप में,
शेष सब हड़प जाने की
साजिश भी यहां होती है।
भगवान को भेंट के नाम पर
मिठाई का डिब्बा दिखाकर,
फुसलाया जाता है।
फिर अपना काम निकालकर,
तिलक करने के बहाने,
अंगूठा दिखाया जाता है।
प्रभु का प्रसाद बताकर,
सब कुछ हड़प कर लिया जाता है।
धर्म के साइन बोर्ड के नीचे
धर्म का बाना पहन खड़ा शैतान
अपने स्वार्थ की दुकान चलाता है।
वाक्‌जाल की माया से
खूब दौलत बटोरता है।
चमत्कारों के चकमे दिखाकर
जनता को उल्लू बनाता है।
स्वर्ग का परवाना
और नरक का भय दिखाकर
जनता को लूटा जाता है।
धर्म का यह धंधा, है सबसे अच्छा।
इसमें नहीं लगता है पूंजी पल्ला।
बिन मेहनत पद, प्रतिष्ठा और पैसा
सब कुछ तो मिल जाता है।

अधिक क्या कहें,
स्वर्ग की बैंक में भी,
खाता खुल जाता है।
यह एक ऐसा धंधा है,
भीतर से हो चाहे काला,
बाहर से तो पूरा उजला है।
पर याद रखो तुम,
सबको दे सकते हो धोखा,
पर तुम्हारे भीतर है, जो बैठा
वह सब कुछ जानता है,
तुम्हारी सारी कलाबाजी पहचानता है,
तुम्हारा परमात्मा
बाहर नहीं, भीतर बैठा है
खुद को दिया गया धोखा
परमात्मा से धोखा है।
धर्म-धंधा नहीं,
मानवता की सेवा है,
धर्म में लूटना नहीं,
लुट जाना पड़ता है।
यह सब कुछ पाना,
नहीं खोना ही खोना है
सेवा और समर्पण है
यहां तो सब कुछ
अर्पण ही अर्पण है,
खुद का ही तर्पण है।
यहां खुदी को मिटा,
खुदा को पाया जाता है।
तेरे-मेरे का भेद मिटा,
सबको अपनाया जाता है।
आत्मा को ही परमात्मा बनाया जाता है।

प्रोफेसर सागरमल जैन

चुनाव व्यक्ति का नहीं, चरित्र का हो

कन्हैयालाल छाजेड़

यह सर्वविदित है कि तेरापंथ समाज संख्या बल की दृष्टि से जैन समाज में सबसे छोटा समाज है और तेरापंथ धर्मसंघ जैनशासन का नवीनतम संस्करण कहा जाता है। लगभग अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने धर्म क्रांति की, फलस्वरूप तेरापंथ धर्मसंघ का उद्‌भव हुआ। अनेक वर्षों तक आचार्य भिक्षु और उनके आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियों को घोर विरोधों, कष्टों और कठिनाइयों से जिस प्रकार जूझना पड़ा, उन रोमांचकारी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर, पढ़कर हृदय कांप उठता है, पर उस समय के त्यागी, तपस्वी और बलिदानी चारित्रात्माओं ने अपने शुद्ध साध्वाचार, कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ संकल्प, गुरु आज्ञा और मर्यादानिष्ठा के बल पर धर्म संघ की नींव को इतनी गहराई दे दी कि आज तक कोई इसका बाल भी बांका नहीं कर सका।

इतिहास साक्षी है, इन संघर्षों में तेरापंथ समाज के श्रावकों की बलिदानी घटनाएं भी कम रोमांचकारी नहीं हैं। यही कारण है कि एक गुरु की आज्ञा, अनुशासन एवं आचार्य भिक्षु द्वारा प्ररूपित मर्यादाओं के तटबंध पर चलनेवाला और सबसे छोटा कहलानेवाला धर्मसंघ आज जैन शासन का शिरमौर बन गया है।

धर्मसंघ और समाज के इस ऊर्ध्वारोहण में हमारे समाज की सभा संस्थाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रश्न हो सकता है तेरापंथ समाज के कार्यकर्ता और संस्थाओं के पदाधिकारियों की अर्हता क्या हो? बहुत समीचीन प्रश्न है और हाल के वर्षों में बहुचर्चित एवं अहम प्रश्न बन रहा है। एक वाक्य में इसका समाधान खोजें तो मैं परमपूज्य गुरुदेवश्री तुलसी और परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के इन शब्दों को उद्धृत करना चाहूंगा—'हमें केवल कार्यकर्ता नहीं, श्रावक कार्यकर्ता चाहिए।'

हमारे समाज की सभा संस्थाओं को दो तरह की भूमिका और दायित्व निभाने पड़ते हैं। संघीय व्यवस्थाओं और तदनुरूप अपेक्षाओं की संपूर्ति संस्थाओं के पदाधिकारी व कार्यकर्ता ही करते हैं। इसके साथ-साथ समाज सेवा के अनेकानेक कार्यों का संचालन भी ये संस्थाएं ही करती हैं। इन संस्थाओं में अगर ऐसे कोई अध्यक्ष, मंत्री या अन्य अधिकारी बनते हैं जिन्हें न तो अपने दायित्वों का भान होता है और न कभी

तत्र-विराजित चारित्रात्माओं की सेवा उपासना कर उनकी अपेक्षाओं की जानकारी करते हैं तो फिर उन की अर्हता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने साधु संघ के लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। वे मर्यादाएं आज धर्मसंघ का प्राण और त्राण बन रही हैं। परमपूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने श्रावक समाज के लिए भी श्रावक निष्ठा-पत्र का निर्माण किया। सचमुच! यह निष्ठा पत्र हमारे लिए मर्यादा पत्र ही है।

आज अपेक्षा है, किसी भी संस्था का अगर कोई अध्यक्ष निर्वाचित या मनोनीत होता है तो उसके लिए श्रावक निष्ठा पत्र के सात संकल्प अनिवार्य रूप से शपथ के रूप में स्वीकार्य होने चाहिए। फिर निश्चित रूप से कहा जा सकता है, वह अध्यक्ष अपने दायित्वों का निर्वहन पूर्ण जागरूकता के साथ करेगा। इसी प्रकार बाकी सभी अधिकारियों के लिए भी यही प्रक्रिया अनिवार्य रूप से लागू की जानी चाहिए। इससे धर्मसंघ, समाज व संस्थाओं की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकेगा। हां! इसके लिए यह भी केंद्रीय संस्थाओं से अपेक्षा है कि वे पदाधिकारियों व कार्यकर्ताओं के ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था करें जिससे वे हमारी संघीय रीति-नीति, मर्यादा, कल्प-अकल्प आदि का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। कार्यकर्ता और पदाधिकारी बनने से पहले ये संस्कार जन्मघूंटी के रूप में उन्हें दिए जाने चाहिए।

इसके साथ-साथ हमें एक अत्यंत चिंतनीय बिंदु पर भी गहराई से विचार करना होगा। हमारी संस्थाओं में भी कहीं-कहीं राजनीति का प्रवेश होना शुरू हो गया है। तेरापंथ समाज की एकता, उसके संगठन, आचार-निष्ठा और आचार्य-निष्ठा की दूसरे-दूसरे समाज के लोग मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं और उसे अनुकरणीय मानते हैं। वहां अगर हमारी संस्थाओं में ओछी व छिछली राजनीति का प्रवेश होता है तो हमारे लिए अत्यंत चिंतनीय एवं दुःखद स्थिति बन जाती है। आश्चर्य तो तब होता है जब समाज के चिंतनशील, प्रबुद्ध एवं सब दृष्टि से सक्षम व्यक्ति ऐसी स्थिति में मौन धारण कर लेते हैं जैसे उन्हें इन सब बातों से सरोकार ही नहीं। उन्हें जब धर्मसंघ और समाज ने बहुमान दिया है तो समाज का उन पर ऋण भी चढ़ा है। वे सोचें—उनकी विमुखता या निष्पृहता संघ और समाज के लिए कितनी भारी पड़ सकती है! समाज उनकी संपूर्ण जागरूकता का आकांक्षी है।

जिस समाज में सहस्त्राधिक संस्थाएं हैं और हजारों-हजारों कार्यकर्ता हैं, वहां कहीं-कहीं ऐसी स्थिति सामने आ सकती है, लेकिन अत्यंत संतोष का विषय है कि समाज की अधिकांश संस्थाएं और उसके पदाधिकारी बहुत सुंदर ढंग से अपने दायित्वों का निर्वहन कर रहे हैं। ऐसी सभा-संस्थाओं ने विकास के नए कीर्तिमान बनाए हैं। इस उजले और दैदीप्यमान पक्ष पर समाज गर्व और गौरव की अनुभूति करता है।

इतने बड़े समाज में और संस्थाओं के जाल में कहीं-कहीं विवाद, समस्या या आपसी मतभेद की स्थिति बन सकती है, पर इन छोटी-छोटी बातों को लेकर जब हम केंद्र में पहुंचते हैं और पूज्यप्रवर का बहुमूल्य समय लेते हैं तब मन में आता है कि क्या हमारे समाज में चिंतनशील, गणमान्य प्रबुद्ध एवं निष्पक्ष व्यक्तित्वों की कमी है जो इन सब समस्याओं का समाधान न दे सकें? हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। उन्हें बहुमान देकर उनकी क्षमता का उपयोग करना होगा। हमारा सौभाग्य है, वर्तमान में हमें परम पूज्य महातपस्वी महामनस्वी आचार्यश्री महाश्रमणजी जैसे अनुशास्ता मिले हैं जो अहर्निश श्रम के पर्याय बनकर संघ के विकास में समय के एक-एक पल का उपयोग कर रहे हैं। हर तेरापंथी श्रावक का यह दायित्व है कि हम उनके श्रम को सर्वांगीण सार्थक बनाने में मनसा वाचा कर्मणा सहयोगी और सहभागी बनें।

एक और समस्या समाज के सामने धीरे-धीरे विकराल रूप ले रही है और वह है अर्थ का अनर्थक अपव्यय। चाहे हमारे सामाजिक आयोजन हों,

व्यक्तिगत या पारिवारिक प्रसंग हों, सभा संस्थाओं के अधिवेशन या कार्यक्रम हों या संघीय आयोजनों की व्यवस्थाएं हों, अंधाधुंध खर्च हो रहा है। देखा-देखी और, इससे और अच्छा या अधिक करने की एक होड़-सी लग रही है। पता नहीं इस दौड़ पर कहां जाकर ब्रेक लगेगा। यह भी सचाई है कि समाज में सम्पन्नता बढ़ी है और उसके साथ उदारता भी, पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम उसका उपयोग अपने धर्मसंघ के उद्देश्यों, आदर्शों, मर्यादाओं और सुदीर्घ उपयोगी परंपराओं व संस्कारों को भुलाकर केवल प्रदर्शन पर करें। अन्यान्य संगठनों की दिशाहीन दौड़ में शामिल हो जाएं। यह भूल भविष्य में हमारे लिए बहुत महंगी पड़ सकती है, क्योंकि हमारे समाज के हर तबके में हमारे ये आयोजन गहरी चर्चा का और आलोचना का विषय बन रहे हैं। समाज के एक-एक पैसे का संपूर्ण बुद्धिमत्ता के साथ सदुपयोग हमारी दूरदर्शिता का परिचायक तो बनेगा ही, समाज को नई पहचान भी देगा। देखें, इस दिशा में कौन पहला कदम उठाता है।

परमश्रद्धेय गुरुदेवश्री तुलसी का जन्म शताब्दी वर्ष प्रारंभ होने में बस अब कुछ दिन ही बचे हैं। एक बड़ा उत्तरदायित्व हमारे सामने है। आचार्य भिक्षु से लेकर तेरापंथ परंपरा के सभी परमपूजनीय आचार्यों ने इस संघ के विकास, विस्तार एवं श्रीवृद्धि में अपना अतुलनीय योगदान दिया, पर गुरुदेवश्री तुलसी ने अपनी अद्भुत मेधा, विलक्षण कल्पना शक्ति अपूर्व दूरदृष्टि, विविध अवदानों और अथक श्रम के साथ की गई सुदीर्घ यात्राओं के माध्यम से तेरापंथ धर्मसंघ को दिग्दिगंत तक पहुंचा दिया। हमारा परम सौभाग्य है, उस महापुरुष, महामानव और हम सबके परम आराध्य प्रातःस्मरणीय गुरुदेवश्री तुलसी की जन्म शताब्दी मनाने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो रहा है। यह अवसर केवल आयोजनों का नहीं है, अपितु आत्मावलोकन का है। जहां कहीं भी सभा-संस्थाओं में विवाद है, आपसी मन-मुटाव है, व्यक्तिपरक समस्याएं हैं, बिना किसी अहम और पूर्वाग्रह के आत्मसाक्षी से श्रीचरणों में बैठकर उन्हें समाप्त कर देना है। तभी हम तेरापंथ के सच्चे श्रावक, अधिकारी या कार्यकर्ता कहलाने के अधिकारी होंगे। और आचार्यश्री तुलसी जन्मशताब्दी पर यही होगी हमारी सच्ची श्रद्धांजलि। और तब हम सभा-संस्थाओं में केवल व्यक्ति का नहीं, चरित्र का चयन करने वाले सच्चे श्रावक बन सकेंगे। ❑

पांच सूत्र सफलता के

- नियमितता
- निष्ठाशीलता
- प्रामाणिकता
- चरित्रशीलता
- गंभीरता

ऐसे ही चलनें दे पर आखिर क्यों?

पद्मचंद पटावरी

'जो होता है वह होने दें', 'जो चलता है उसे चलने दें', 'यह सब तो चलता रहता है', आजकल यह भाषा लोकजीवन में स्थापित होने लगी है। लोग कहते हैं, बुराइयां कब नहीं थीं, व्यसन आज क्यों, पहले भी तो चलते थे, सिर्फ उसकी शक्लें बदली हैं। मेरी नजर में इस प्रकार के कथन और टिप्पणियां कायराना सोच के प्रतीक हैं अथवा स्वयं से जानबूझकर अनजान बनने की कवायद मात्र है।

आश्चर्य मिश्रित खेद और कष्ट होता है, जब व्यसनों के बदलते मुखौटों की आई-गई की जाती है। क्या यह ऐतिहासिक भूल नहीं हो रही है? यदि इस प्रकार के कथन समाज के कर्णधार और अगुआ बेखौफ होकर करते हैं तब अजीब सी घबराहट होने लगती है। मन आशंकाओं से भर उठता है, जो संदेश जाना चाहिए, वह पलट जाता है।

यहां तो सब कुछ निखालिस चाहिए। सोच तो कम से कम भ्रामक न हो। याद करता हूं अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद के पूर्व अध्यक्ष दीपचंद नाहर को, जिन्होंने पदारोहण के साथ साहसपूर्ण घोषणा की थी कि मेरी टीम के युवा साथी व्यसन-मुक्त होंगे। यदि इत्तफाक से कुछ भी विपरीत हुआ तो उन्हें पदमुक्त होना पड़ सकता है।

हम क्यों भूल जाते हैं आचार्यश्री तुलसी के उस मार्मिक कथन को कि तेरापंथ की उजली चादर पर एक छोटा-सा भी धब्बा हो तो हमें न सहन होता है और न ही औरों को स्वीकार्य होता है जबकि आस-पड़ौस के बड़े-बड़े घुब्बारे भी नजरअंदाज कर दिए जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी ओर से लचीली और ढीली बात करना न तो न्याय संगत है और न ही हमारे लिए शोभास्पद है।

निस्संदेह वक्त के थपेड़ों से हम बिल्कुल अलग नहीं रह पाए हैं। समय की मार भला हमें क्यों छोड़ती! बिल्कुल छोड़ देती तो खुशनसीबी होती, हमारे लिए जरूरी नहीं होता कि अनाज की पूरी बोरी में ही घुन लग जाने पर उसकी सार-संभाल करें, क्योंकि तब तक एक दृष्टि से बहुत कुछ चुक गया होता है। बुद्धिमान व्यक्ति चौकस रहकर घुन लगने की भनक पाते ही उसकी रोकथाम कर लिया करते हैं।

अनेक बार पूज्यवर फरमाते हैं कि हम गुरु भक्ति का दंभ भरते हैं, दुहाइयां भी देते हैं, पर गुरु की सीख और नजर को दरकिनार करने में नहीं चूकते। कितने मार्मिक होते हैं आपश्री के वक्तव्य के ये बोल, जो हमारी दशा और दिशा को बदलकर रख सकते हैं, पर ऐसा होता नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि सब कुछ निष्प्रभावी है, कत्तई नहीं, पर जो प्रतिशत सामने आ रहा है, उसका ग्राफ कमजोर जैसा प्रतीत हो रहा है।

समाज में अच्छे लोग पिलर की तरह होते हैं, जिन पर समाज का आधार टिका हुआ होता है। हम उनके चिर ऋणी रहेंगे, जिनकी बदौलत हमारा मुख्य आधार आज भी ज्यों का त्यों खड़ा है।

पिछले कुछ वर्षों से कुछ बिन्दु चिंतनीय ही नहीं, विमर्शनीय भी बनते जा रहे हैं, उनमें से एक है कि सभा संस्थाओं के पदाधिकारी कैसे हों? यह हर्ष का विषय है, जब बताया जाता है कि संस्थाओं के शीर्ष दायित्व अध्यक्षीय आसन पर विराजमान होनेवाले व्यक्ति में कुछ अर्हताएं अनिवार्य होनी चाहिए। यथा धर्मसंघ के प्रति निष्ठाशील हो। प्रशासनिक अनुभव हो। नेतृत्व करने की क्षमता हो। समय के नियोजन में दक्ष हो। व्यवस्था पक्ष में निपुण हो। संस्था के माध्यम से समाज का हित साधन करने की दृढ़-इच्छा-शक्ति रखता हो। साधु-साध्वियों के प्रति विनम्रता के भाव के साथ उनके समर्थन में हो। मैं यह कह सकता हूं कि ये अर्हताएं आईना हैं, जिसमें झांकने से इस गरिमापूर्ण दायित्व की सचाई का अहसास किया जा सकता है। मेरा अभिमत है कि सिर्फ अध्यक्षीय व्यक्ति ही क्यों, प्रत्येक पदाधिकारी ऐसा हुआ तो हमारी संघीय संगठनात्मक ढांचे का पक्ष सिर्फ उजागर ही नहीं होगा, सर्वांगीण रूप से पुष्ट भी हो जाएगा।

यहां भी मूल प्रश्न है सोच का। यदि सोच सकारात्मक है, तो अच्छाइयों को ढूढ़ने नहीं जाना पड़ेगा। वे स्वयं उभरकर सामने आती जाएंगी और व्यक्ति स्वयं में अच्छा सोचने और करने की ओर अग्रसर होगा, दुर्भाग्य से यदि वे सोच के दरवाजे तंग या बंद हो गए तो परिणाम आशा से विपरीत भी हो सकते हैं।

सामाजिक जीवन में एक बड़ी कठिनाई ने अपनी जड़ें जमानी शुरू कर दी है, वह है प्रवाहपातिता की स्वीकृति। समाज का बड़ा वर्ग तो प्रवाह में बहने को विवश जैसा प्रतीत हो रहा है। अंगुली निर्देश का साहस यदि कर भी दिया जाए तो उसके प्रति रुझान में कहीं कोई कसर नहीं रहती, पर सही दिशा में आगे बढ़ने वाले कदम कहीं न कहीं कोई ठिठक ही जाते हैं। घूम-फिर कर कारण यही दिखाई देता है कि जिस दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता है, वह कहीं न कहीं आहत है या कमजोर पड़ रही है। मेरी नजर में हमें और समाज को कारणों की मीमांसा में जाना चाहिए।

हालांकि संत, महात्मा, आचार्य एवं सामाजिक मूल्यों के पुरोधा पुरुष मूल्य मानकों की रेखाएं खींचकर समाज को सचेत कर रहे हैं, पर उन तक पहुंचने वाले कदम गिनती के होते हैं, नतीजन समाज का अधिसंख्यक हिस्सा ठहरने को बाध्य हो जाता है। मैं अत्यंत विनम्रता के साथ निवेदन करना चाहता हूं कि व्यक्ति बदलते परिदृश्य के साथ उन सचाइयों को झुठलाने की निरर्थक कोशिश न करे, जिससे हमारा समाज कहीं न कहीं कमजोर पड़ रहा है, उसकी रफ्तार बाधित हो रही है।

वक्त के साथ सामंजस्य स्थापित करने में हमारे प्रतापी आचार्यों का कोई शानी नहीं है, वे सिर्फ इस कला में सिद्धहस्त ही नहीं रहते वरन् वक्त के पारखी भी होते हैं। आचार्यश्री ने संघ और समाज को विवेकपूर्ण दिशा-निर्देश दिया है। आपने वक्त के साथ सिर्फ चलने की नहीं वरन् छलांग लगाने का प्रेरणा पाथेय प्रदान किया है। अपेक्षा है, तेरापंथ समाज के शिरमौर व्यक्ति एवं आम कार्यकर्ता परिवर्तन की लहर को पहचाने और वक्त के साथ अपने कदम मिलाकर संघ और समाज की सेवा करे और स्वस्थ समाज की संरचना में भागीदार बने। ❐

चेतना के ऊर्ध्वारोहण का पर्व : संवत्सरी महापर्व

साध्वी कनकरेखा

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। यहां अनेक धर्मों व पर्वों का अद्भुत संगम है। भारतीय संस्कृति में निखार लाने में पर्वों का बड़ा योगदान रहा है। पर्व भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे कुछ लौकिक, राष्ट्रीय, कुछ आध्यात्मिक पर्व होते हैं। जो लौकिक पर्व हैं उनमें किसी न किसी प्रकार की कामना जुड़ी हुई रहती है। चाहे धन की हो, पुत्र अथवा परिवार की। इसी प्रकार राष्ट्रीय पर्व जिनके पीछे देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम व स्वतंत्रता की भावना छिपी रहती है। लोकोत्तर पर्वों में धार्मिक पर्व आते हैं, जो आत्मविकास की प्रेरणा देते हैं। इन विशिष्ट दिनों को पर्व के रूप में मनाया जाता है।

जैन परंपरा में पर्युषण पर्व, महावीर जयंती, अक्षय-तृतीया आदि धार्मिक पर्व मनाए जाते हैं। जिनके पीछे आत्म-शुद्धि की प्रेरणा रहती है। धार्मिक पर्वों में भी श्रेष्ठपर्व है पर्युषण पर्व, जिसे पर्वाधिराज महापर्व भी कहते हैं। पर्युषण पर्व से जैन समाज के सभी सदस्य, चाहे छोटे या बड़े हों, सभी परिचित हैं। दिगंबर परंपरा में पर्युषण शब्द के स्थान पर दशलक्षण शब्द प्रचलित है। वर्षभर में एक बार आने से संवत्सरी भी कहते हैं।

पर्युषण जैनों का महापर्व है—यह जागरण का संदेश लेकर आता है। व्यक्ति को मूर्च्छा-प्रमाद-आलस्य से दूर हटाकर सचाई से परिचित कराता है। व्यक्ति को कुछ पाने की प्रेरणा देता है। यह पर्व आमोद-प्रमोद, शारीरिक साज-सज्जा का नहीं, संयम का पर्व है। जो व्यक्ति को पूर्णता की ओर प्रस्थान कराता है। भोग से त्याग की ओर, राग से विराग की दिशा का प्रेरक पर्व है। यह पर्व संपूर्ण मानवजाति का पर्व है। संवत्सरी न किसी तीर्थंकर की जन्म जयंती या निर्वाण दिवस से जुड़ी हुई है और न किसी धर्म संप्रदाय का प्रवर्तन दिवस है। यह मानव जाति की संस्कृति व सभ्यता के अभ्युदय का आदि दिवस है। इसलिए यह महापर्व की अभिधा को सार्थकता प्रदान करता है। जैन मतानुसार उत्सर्पिणी के अंतिम चरण में मांसाहारी लोगों ने आज के दिन मांसाहार न करने का संकल्प लिया था। जिसे हम मानवता (अहिंसा) का प्रथम दिन मानते हैं। इस दृष्टि से इसका महत्त्व संपूर्ण मानव जाति के लिए है।

यह महापर्व प्रायः भाद्रपद शुक्ला पंचमी को मनाया जाता है। संवत्सरी पर्व श्वेतांबर समाज के लिए पर्युषणा का अंतिम दिन है और दिगंबर समाज के लिए पर्युषणा यानी दशलक्षण का प्रथम दिन होता है। श्वेताम्बर समाज में इस अष्टाह्निक उत्सव को सत्य, संयम आदि दस धर्मों की आराधना से मनाया जाता है, जिससे चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है।

अलौकिक पर्व

यह पर्व आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं अपितु अहिंसा, मैत्री, सौहार्द व सह-अस्तित्व की भावना जन-जन तक पहुंचानेवाला अलौकिक पर्व है। इसको मनाने की विधि भी अलग है। पर्युषण आते ही जीवन में नई चेतना का संचार होता है। जीवन में चालू व्यवहारों व कार्यों से हटकर कुछ नया करने की प्रेरणा देता है। सुविधावादी व स्वार्थप्रधान जीवनशैली में परमार्थ की बात बताता है। परिवर्तन आता है। इसीलिए पर्युषण आते ही बच्चे, युवा, वृद्धों में भी कुछ करने का उत्साह पैदा होता है। इस पर्व के साथ लाखों लोगों की आस्था जुड़ी हुई है। अति व्यस्तता के बावजूद भी इस पर्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। कभी सामायिक, उपवास, पौषध नहीं करनेवाले भी इस दिन करते हैं। जो बच्चे खाने व खेलने में मस्त रहते हैं वे भी इन दिनों में चादर ओढ़े, मुखवस्त्रिका बांधे हुए धर्मस्थान पर जाते हैं तथा आलु, प्याज व कंदमूल का त्याग कर देते हैं। यही पर्व की अलौकिकता है।

अहिंसा का महान पर्व

प्राचीन समय में भारत देश अहिंसा, मैत्री व अध्यात्म की भावना से ओतप्रोत तथा चारित्रिक ऊंचाई के लिए प्रसिद्ध था। वही आज भौतिकवाद की ओर तेजी से बढ़ रहा है। ऐसा लगता है मानो आमोद-प्रमोद ही जिंदगी का लक्ष्य बन गया है। शरीर की सुंदरता बढ़ाने के लिए कैसी-कैसी साधन सामग्री का उपयोग करता है। वह भूल जाता है कि इनको तैयार करने में कितने निरीह प्राणियों की क्रूरतापूर्वक हत्या की जाती है। आज कॉस्मेटिक्स सामान की दुकानें बढ़ती जा रही हैं। इसका मुख्य कारण है— महिलाओं में बढ़ती हुई सौंदर्य लिप्सा। सौंदर्य पिपासा सामान्य लगती है, किंतु इसने अनर्थ हिंसा को बढ़ावा दिया है तथा अहिंसक कहलाने वाले समाज के लिए प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। जिसका मन अपवित्र है, उसका बाह्य सौंदर्य भी खतरे से खाली नहीं। आज आवश्यकता है कि व्यक्ति-व्यक्ति में प्राणीमात्र के प्रति संवेदनशीलता व करुणा का भाव जगाया जाए। पर्युषण पर्व एक ऐसा पर्व है जो व्यक्ति के त्याग की चेतना को जगाता है। अनावश्यक हिंसक प्रवृत्ति से उत्पन्न साधनों का उपयोग न करने की प्रेरणा देता है। पर्युषण पर्व में अधिक से अधिक अहिंसामय जीवन जीने तथा हिंसा से विरत होने का अभ्यास कराया जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी अहिंसा यात्रा के द्वारा जन-जन में अहिंसक चेतना को जागृत कर शांतिमय जीवन का प्रशिक्षण दिया है।

आत्मनिरिक्षण पर्व

हर व्यक्ति विश्व की जानकारी रखता है, पर स्वयं के बारे में नहीं जानता। दूसरों की गलतियों को देखता है, पर स्वयं की गलतियों को नजरअंदाज कर देता है। सही माने में मनुष्य ने दूसरों को देखने में अनंत जन्म बिता दिए, किंतु अपने भीतर क्या है? आज तक नहीं देखा। पर्युषण पर्व आत्मनिरीक्षण का पर्व है। यह अतीत के सिंहावलोकन की पावन प्रेरणा देता है। हम लेखा-जोखा करें, पूरे वर्षभर में क्या खोया, क्या पाया? उन क्षणों को याद करें जिन्होंने हमारे जीवन को बरबाद किया। हम अतीत को देखें, वर्तमान में जीते हुए सुखद भविष्य की शुरुआत करें, क्योंकि छिलके को देखने वाला बाहरी रंग व आकार से परिचित होता है, भीतर के रंग-रूप व गुण से नहीं। जिन्होंने अपने भीतर को देखा तो वे तर गए। अपने को देखनेवाला अंतर्दृष्टि को प्राप्त होता है। हमारे भीतर अनिर्वचनीय आनंद का खजाना है। उसको पाने के बाद अब तक का देखा, सुना और चखा हुआ सब फीका है।

क्षमापर्व

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, परिवार व समाज के बीच जीवन जीता है। समाज में रहते हुए अनेक कार्य संपादित करता है। व्यवहार निभाता है। उसमें जाने-अनजाने अनेक भूल कर बैठता है। आवेश व अहंकारवश कटु शब्दों का प्रयोग भी कर लेता है। यह कटुता आपसी दूरियां, हिंसा व वैरभाव को पैदा करती है। यह पर्युषण पर्व क्षमा के आदान-प्रदान का अद्वितीय पर्व है जो ग्रंथि विमोचन का अवसर प्रदान करता है। क्षमा का आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है तो व्यावहारिक जीवन में भी कम महत्त्व नहीं है। जब तक हृदय की गांठ खोलकर आदान-प्रदान नहीं होता तब तक मन की शुद्धि नहीं होती। जैन दर्शन के अनुसार वह सम्यक्त्व रूप रत्नरहित हो जाता है। गांठ चाहे लकड़ी में हो या शरीर में, कहीं भी अच्छी नहीं। गांठवाली लकड़ी का न फर्नीचर अच्छा बनता है न बांसुरी। शरीर में भी गांठ हो तो निकाले बिना चैन नहीं होता। जब शरीर की गांठ हमें इतना कष्ट देती है तो मन की गांठ का तो कहना ही क्या? जीवन को सरस एवं आनंदमय बनाने के लिए क्षमायाचना अत्यंत उपयोगी है। इसके लिए भगवान महावीर ने महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया—

खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।

भगवान महावीर का संदेश मानवता का संदेश है। यदि इसे संपूर्ण मानव जाति स्वीकार कर ले तो अनेक समस्याओं का समाधान सहज हो जाता है। मैत्री के पर्व को मनाने की परंपरा केवल जैन समाज में ही प्रचलित है, पर यह पर्व यदि राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मनाया जाए तो हिंसा, आतंक की समस्या स्वतः समाहित हो सकती है। ❑

उम्र के हर मोड़ पर अपने को निखारते रहो

जीवन के आखरी पड़ाव तक अगर कार्यक्षमता को सही रखना चाहते हो व जवानों की तरह जोश व प्रगतिशील बने रहना चाहते हो तो अपने जीवन को निखारते रहना होगा। सकारात्मक विचार व मेहनत के साथ सर्जन करते हुए जीवन में रोशनी भरते रहिए, निराशा की तरफ मुख न करें।

एक ईमानदार लकड़हारा एक व्यापारी के पास गया, उसको वहां पर पेड़ काटने के लिए नौकरी मिल गई। पहले दिन दस वृक्ष काटकर लाया, दूसरे दिन आठ वृक्ष काटे गए, तीसरे दिन चार वृक्ष काटकर लाया। उसे अपने आप की कार्यक्षमता घटने की चिंता हो गई। मालिक के पास जाकर कहा कि मेरी कार्यक्षमता घट रही है। मैं मेहनत की मजदूरी ही लेना चाहता हूं, इसलिए यह नौकरी छोड़ना चाहता हूं।

मालिक उसकी ईमानदारी व कर्मठता से परिचित था। उसने कहा—पहले मुझे बताओ कि आखिरी बार तुमने अपनी कुल्हाड़ी की धार कब बनवाई थी? लकड़हारा बोला—मालिक, मैं काम में इतना व्यस्त था कि कुल्हाड़ी में धार बनाने का वक्त ही नहीं मिला। मालिक बोला—यही कारण है कि तुम्हारी कार्यक्षमता घटती गई।

'जीवन में हर चीज को हर काम के लिए धार की जरूरत होती है।'

मैत्री भाव से सुलझते हैं विवाद

मुमुक्षु शांता जैन

जैन-धर्म में आत्म-शुद्धि का महान अनुष्ठान है संवत्सरी। यह आध्यात्मिक पर्व स्वयं द्वारा स्वयं को देखने की साधना देता है। प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त की प्रक्रिया से गुजरकर प्रत्याख्यान की तैयारी करवाता है। पारदर्शी मन का निर्माण करता है। आत्म-चिंतन का अवसर देता है—मैंने क्या किया? मेरे लिए क्या करणीय शेष है? वह कौन-सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूं, पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूं?

इस दिन की महत्त्वपूर्ण संध्या पर ऋजु मानस परत-दर-परत भीतर से खुलता है। अतीत को एक बार पुनः जीता है। स्वयं पूछता है—मैंने किसके साथ कब, कहां, क्या प्रमादजनित अज्ञानतावश आचरण किया? उन सबका 'मिच्छामि दुक्कड़' लेता है। मन की गांठें खुलती हैं। चौरासी लाख जीव-योनि से क्षमायाचना की प्रेरणा मिलती है। ऋजुता से आत्म-स्नान होता है।

सचमुच! कितना पवित्र है आत्म-शुद्धि का यह अनुष्ठान। कितना जागरूक प्रयत्न है कृत कर्मों की आत्मालोचना का। ऐसे समय में जब आदमी आदमी से अपनी कृत भूलों के लिए क्षमा नहीं मांग सकता, वहां संपूर्ण विश्व की हर इकाई से क्षमायाचना का यह विधि-विधान वास्तव में व्यक्तित्व रूपांतरण की क्रांतिकारी घटना है।

जीव उपादान और निमित्तों के साथ चलता है। उपादान परिणामी होते ही हैं, पर निमित्तों की प्रभावकता आम जिंदगी में ज्यादा देखने को मिलती है। यदि निमित्त स्वस्थ न मिले तो चरित्र के चेहरे बदलते देर नहीं लगती। मिनटों में जीवन के अच्छे-बुरे भावों का भूगोल गड़बड़ा जाता है। फिर चाहे व्यक्ति का कद कितना ही ऊंचा क्यों न हो। शान-शौकत, मान-प्रतिष्ठा, धन-वैभव सभी कुछ अपना मूल्य खो बैठते हैं, इसलिए स्वस्थ निमित्तों की परिणति जिंदगी में सुख, समृद्धि, शांति, समाधि के लिए अत्यावश्यक है।

स्वस्थ निमित्तों की शृंखला में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—मैत्रीभाव। जो व्यक्ति बिना राग-द्वेष निरपेक्ष भाव से सबके साथ मैत्री स्थापित करता है, सबके कल्याण का आकांक्षी रहता है, सबके अभ्युदय में स्वयं को देखता है, उसके जीवन में विकास के लिए आयाम खुलते रहते हैं।

मैत्री-भाव हमारे आत्म-विकास का सुरक्षा कवच है। गुरुदेव तुलसी ने इसके लिए सात सूत्रों का निर्देश किया—मैत्री के लिए चाहिए—विश्वास, स्वार्थ-त्याग, अनासक्ति, सहिष्णुता, क्षमा, अभय, समन्वय। यह सप्तपदी साधना की पृष्ठभूमि है। विकास का दिशा-सूचक मंत्र है। यह प्रयोग, प्रविधि और परिणाम की प्रक्रिया है।

प्रश्न उभरता है कि आज मनुष्य-मनुष्य के बीच मैत्री-भाव का इतना अभाव क्यों? क्यों इतना पारस्परिक दुराव? क्यों वैचारिक वैमनस्य? क्यों मतभेद के साथ जनमता है मनभेद? ज्ञानी, विवेकी, समझदार

होने के बाद भी आए दिन मनुष्य लड़ता-झगड़ता है। विवादों के बीच उलझा हुआ तनावग्रस्त खड़ा रहता है। न वह विवेक की आंख से देखता है, न तटस्थता और संतुलन के साथ सुनता है, न सापेक्षता से सोचता है और निर्णय लेता है। यही वजह है कि वैयक्तिक रचनात्मकता समाप्त होती जा रही है। पारिवारिक सहयोगिता और सहभागिता की भावनाएं टूट रही हैं। सामाजिक बिखराव सामने आ रहा है। धार्मिक आस्थाएं कमजोर पड़ने लगी हैं। आदमी स्वकृत धारणाओं को पकड़े हुए शब्दों की कैद में स्वार्थों की जंजीरों की कड़ियां गिनता रह गया है।

उस परिवेश और परिस्थिति में मैत्रीभाव कभी नहीं विकसित हो सकता जहां स्वार्थों की दीवारें समझ से भी ज्यादा ऊंची उठ जाएं। विश्वास संदेहों के घेरे में घुटकर रह जाए। समन्वय और समझौते के बीच अहं आकर खड़ा हो जाए, क्योंकि अहं की उपस्थिति में आग्रह की पकड़ ढीली नहीं होती और बिना आग्रह टूटे सत्य तक पहुंचा नहीं जा सकता। इसलिए जरूरी है मैत्री-भाव की प्रगाढ़ता में हम उन कारणों की खोज करें जो इस दिशा में बाधक तत्त्व हैं।

मैत्री का धागा टूटता है आपसी समझ के अभाव में। व्यक्ति के बीच जब विश्वास प्रश्नों के घेरे में आ खड़ा होता है तो मन शंकाओं के ऐसे रंग में रंग जाता है कि फिर दिखने वाली वस्तु रंगीन ही लगती है, भले चाहे वह सफेद ही क्यों न हो। औरों की कही बातों पर व्यक्ति के संदर्भ में धारणाएं बना लेना, अपने नजरिए के पेरामीटर से मापने का आग्रह करना आधी-अधूरी सचाई को पाना है।

सच तो यह है कि ऐसे कितने उदारमना, करुणाशील लोग होंगे जो आपसी सामंजस्य बिठाने की पहल करते हैं। पूर्वाग्रह को छोड़ सत्य की स्वीकृति में अपने अहं को झुकाते हैं। संवादों के बीच उलझे तथ्यों को संतुलन के साथ सुलझाकर विवादों को विराम देते हैं। अधिकांश लोग औरों की खामियों को तेज धार देकर स्वयं की सुरक्षा में नए तर्क प्रस्तुत कर देते हैं।

कितना हास्यास्पद है मनुष्य का यह दावा करना कि दूसरा सैकड़ों भूलें कर सकता है, पर मैं एक भी नहीं। कोई भी व्यक्ति सदा गलत नहीं हो सकता। मानवीय दुर्बलताएं व्यक्ति को सावधानियों के बीच भी कभी-न-कभी स्खलित कर देती हैं।

छद्मस्थता हमारी विवशता है, इसलिए तैयारी आवश्यक है कि भूलें न हों। मगर भूलें हो जाएं तो भूलों की स्वीकृति हो और शोधन की तैयारी भी। अन्यथा बिना प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त के व्यक्तित्व-विकास संभव नहीं होता।

आपसी संबंधों की सुरक्षा में आवश्यक है सहिष्णुता। प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, वातावरण या विचार के प्रति प्रतिक्रिया न करना। जो सहना नहीं जानता वह कलह, विवाद, निरर्थक तर्कों में उलझकर सुख और आनंद की पकड़ ढीली कर देता है। सच तो यह है कि दुश्मन से भी ज्यादा दोस्त को सहना जरूरी है, क्योंकि अपनों के बीच टूटता विश्वास, उठता विरोध, पनपता मनभेद ज्यादा घातक होता है।

इसलिए बुराइयों के परिष्कार में महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—गलती बताओ, पर छिद्रान्वेषी बनकर नहीं, हितैषी बनकर। अंतिम क्षण तक व्यक्ति को सुधरने का मौका दो, उसे टूटने मत दो, क्योंकि बदलना धर्म का शाश्वत सत्य है।

मैत्री में द्वैतभाव नहीं रहता, इसलिए वहां न अपने-पराए का भेद है, न प्रतिस्पर्धा, न छोटे-बड़े की सीमा-रेखा। न आपसी खींचातान और न 'मैं', 'तू' का विग्रह। मैत्री के साथ जिस क्षण आत्मालोचन का उपक्रम जुड़ता है, क्षमा के आदान-प्रदान का विनम्र व्यवहार होता है उसी क्षण हमारी निश्छलता, पापभीरुता, ऋजुता और जागरूकता की उपस्थिति में सारे निषेधात्मक भाव, संस्कार विराम पा लेते हैं।

यह धार्मिक पर्व संकल्प बने हमारे मैत्री भाव के विकास का। हम भूलों की पुनरुक्ति का अभ्यास छोड़ें। जीए गए अनुभव हमें फिर एक बार इस प्रतिज्ञा से प्रतिबंधित कर दें—'इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासि पमाएणं।' अब मैं वह कार्य नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमादवश पहले कर लिया। ❒

तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा

महासभा का इतिहास

लेखक
मुनि सुमेरमलजी (मंत्रीमुनि) लाडनूं

संपादक
मुनि उदित कुमार

गतांक से आगे...(सातवीं किस्त)

महासभा : एक प्रतिष्ठित संस्था

सन् 1942 : द्वितीय विश्वयुद्ध का असर

● द्वितीय विश्वयुद्ध की लहर भारत में भी पहुंच गई। कलकत्ता पर ज्यादा नजर थी। बर्मा से नजदीक होने पर कलकत्ता को विशेष खतरा था। लोगों में भय व्याप्त हो गया। काफी लोग कलकत्ता छोड़-छोड़ कर जाने लगे। कुछ ही दिनों में विद्यालय के अधिकांश विद्यार्थी कलकत्ता छोड़ चुके थे।

18/01/42 की मीटिंग में मंत्री ने सूचना दी—विद्यालय अनिश्चितकाल तक बंद हो जाने से मकान मालिक ने 31/01/42 तक मकान खाली करने का नोटिस दिया है। अकेली सभा 260 रुपए चुकाए, यह भी संभव नहीं है। तय किया—मकान मालिक से मिलकर बातचीत करके भाड़ा कम करने पर जोर दिया जाए अथवा नया मकान देखा जाए।

● 22/02/42 को तय किया—पुस्तकालय गंगाशहर में स्थानांतरित कर दिया जाए, वहां ईसरचंदजी चौपड़ा ने सार-संभाल का दायित्व लिया है। ऐसा सरदारशहर से गधैयाजी के आए पत्र से ज्ञात हुआ। मीटिंग में यह भी तय किया गया—अब 130 रुपए देकर मकान क्यों रखा जाए? केवल एक कमरा ही ऑफिस के लिए काफी है। एक तल्ले पर कोई कमरा देख लिया जाए। विश्वयुद्ध के कारण एक बार सभा का सारा तंत्र ही लड़खड़ा गया। सभा के भी बहुत कम सदस्य कलकत्ता में रह पाए थे।

जोधपुर सभा को मान्यता

2/6/42 की मीटिंग में जब्बरमलजी भंडारी का पत्र पढ़कर सुनाया गया, जिसमें जोधपुर सभा को कलकत्ता सभा की शाखा के रूप में स्वीकृत करने का आवेदन था। सर्वसम्मति से तय हुआ कि उन्हें सूचित कर दिया जाए कि आपका आवेदन स्वीकृत कर लिया है। जोधपुर की दूसरी सभा थी, जो महासभा के साथ संलग्न बनी। वैसे उस समय में सभा ही दो-तीन जगह पर थी।

सन् 1943

10/2/43, कार्यालय युद्धजनित स्थिति में कहां रखा जाए, इस पर चिंतनपूर्वक निर्णय लिया गया—कार्यालय कलकत्ता में ही रखा जाए। एक कार्यालय गंगाशहर में भी खोला जाए। विशेष जरूरत पड़ने पर कार्यक्रम का संचालन वहां से किया गया।

सन 1944 : विद्यालय की स्थाई व्यवस्था पर विचार

● विद्यालय को पुनः चालू करने हेतु समाज के कार्यकर्ताओं में काफी उत्साह रहा। बीच में विश्वयुद्ध के

कारण बंद हो गया था। समय-समय पर सभा की मीटिंगों में भी इस विषय को सदस्य उठाते रहे। विद्यालय समिति ने 28/01/45 को एक साधारण सभा बुलाई और विद्यालय भवन तथा विद्या प्रचार हेतु दस लाख रुपयों का फंड एकत्रित करने का प्रस्ताव पास किया था। उसी प्रस्ताव को सभा 16/01/45 की मीटिंग में विशेष रूप से उल्लेख करते हुए प्रस्ताव पास किया—चंदा लिखाना यथाशीघ्र शुरू कर देना चाहिए। तीन लाख चढ़ जाएं तब अदायगी शुरू की जाए। दस लाख में से विद्यालय में जितना लगे उतना उसमें लग जाएगा, बाकी फंड बन जाएगा, जिससे कोर्स की पुस्तकें आदि छपती रहेंगी। लगता है, तब तक भी विद्यालय सभा से अलग केवल कानूनी स्तर पर ही था। कार्यकर्ता दोनों के एक थे। सभा की मीटिंग में विद्यालय के चंदा संबंधी बात ही नहीं, उसके उपयोग की रूपरेखा भी दी गई। इससे पूर्व 7/1/45 की कार्यकारिणी मीटिंग में विद्यालय की बात उठाई गई। भवन निर्माण, विद्यालय संचालन हेतु सक्षम उत्साही युवकों को दायित्व सौंपने की बात कही गई। वार्षिक अधिवेशन पर इस विषय पर ठोस निर्णय लेने का आग्रह किया गया।

- 17/6/45, मंत्री ने बताया—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी विद्यालय ने 28/1/45 की साधारण सभा में कलकत्ता में एक तेरापंथी भवन बनाने के लिए दस लाख रुपया एकत्रित करने का प्रस्ताव पास किया था। उक्त प्रस्ताव के अनुसार 28/4/45 को विद्यालय की एक साधारण मीटिंग बुलाई गई थी, जिसमें यह प्रस्ताव पास हुआ—

'आज की यह सभा प्रस्ताव करती है कि तेरापंथ भवन तथा विद्या प्रचार के लिए दस लाख रुपयों का जो प्रस्ताव 28/1/45 को साधारण सभा में पास हुआ था, उसके अनुसार चंदा भराना शुरू कर दिया जाए तथा तीन लाख रुपयों का चंदा चढ़ने से चंदादाताओं से रुपए मांगे जाएं। इन रुपयों से जो भवन बनेगा, उस पर स्थानीय तेरापंथी सभा तथा विद्यालय का बराबर-बराबर हक रहेगा। भवन बनाने के उपरांत जो रुपए बचेंगे, वे विद्यालय के कोष में जमा होंगे और उसके उद्देश्य की पूर्ति, विद्या प्रचार और उपयोगी साहित्य में लगाए जाएंगे। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा जो पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करेगी उनका व्यय विद्यालय देगा और उन पुस्तकों को अपने पाठ्यक्रम में स्थान देगा।' प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया।

दिल्ली में सभा की शाखा मई 45 में खोल दी गई थी। उसकी सूचना भी मीटिंग में सदस्यों को दी गई। सभी ने सर्वसम्मति से इसका अनुमोदन किया।

सन् 1950 : निजी भवन में पहली मीटिंग

- 2/3/50 की कार्यकारिणी की मीटिंग 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट में हुई। सभा के अपने निजी भवन में यह पहली मीटिंग हुई। सभा स्थापित होने के सैंतीस वर्ष बाद कार्यकर्ताओं का स्वप्न साकार हुआ। सभा भवन के रूप में समाज में यह दूसरा भवन था। पहला भवन चाड़वास में सन् 1945 में स्थानीय श्रावक रतनचंदजी चोरड़िया ने समाज को भेंट किया। खरीद कर महासभा भवन के रूप में यह पहला कार्य प्रतिष्ठित हुआ। इस हेतु कार्यकर्ताओं का अथक श्रम रहा था। भवन खरीद करने का भी एक इतिहास रहा है।

समाज में पहली बार पढ़ने हेतु बिना ब्याज अनुदान (लोन) का प्रसंग आया। रेलमगरा (मेवाड़) से छात्र मदनलाल मेहता का आया पत्र मंत्री ने पढ़कर सुनाया। विद्यार्थी आगे पढ़ना चाहता है। उसने लिखा था–'दो साल उसे बिना ब्याज 700 रुपए चाहिए, बाद में जमा कर चुका दूंगा।' मूलचंदजी सेठिया ने पहले वर्ष, नेमीचंदजी गधैया ने दूसरे वर्ष बिना वापसी की शर्त पर रुपए देने की घोषणा की। इससे पूर्व कभी शिक्षा के लिए सहयोग देने का प्रसंग नहीं आया।

- 9/12/50 की मीटिंग में महासभा भवन में समागत अतिथि को ठहराने आदि की व्यवस्था के बारे में चिंतन चला–पहले हमारे पास केवल किराए के मकान थे, अब अपना निजी मकान है। आवश्यक सामान हेतु तीन हजार रुपए पास किए। समागत अतिथि को ठहराने का प्रस्ताव पास किया।

- 2/11/1952 की मीटिंग में अन्य विषयों के साथ बाहर से आए पत्रों को सुनाया गया। इग्लैंड के श्री इ. जे. थामस, केंब्रिज के हेनरी एच. प्रेसलर, जगदलपुर के डॉ. पी. टी. राजू आदि के थे। बाहर काफी संपर्क बढ़ा।

विदेशों से पत्र जैन धर्म तथा जैन शास्त्रों की जानकारी के लिए आया करते थे।

सामाजिक कार्य महासभा करे या न करे, इसे लेकर सदस्यों में काफी मतभेद था। धीमे-धीमे वह बढ़ता गया। अणुव्रत कार्य भी महासभा न करे, कइयों की ऐसी रूढ धारणा थी। महासभा में पिछले वर्ष अणुव्रत प्रचार का विभाग खोला गया तो पन्नालालजी भंसाली ने विरोध किया था। उन्हें रूढि उन्मूलन का कार्य भी सामाजिक लग रहा था। वे उद्देश्य समझ नहीं पाए।

● 6/12/1953 की मीटिंग में सरावगी के पत्र पर विचार हुआ। पत्र में लिखा था—महासभा, आदर्श साहित्य संघ व युवक परिषद के कार्यकर्ता मिलकर विस्तृत कार्य योजना बनाएं। उसकी रूपरेखा पत्र में दी हुई थी। सदस्यों का चिंतन था—बिना मिले केवल पत्रों से कभी गलतफहमी दूर नहीं होती। मूलचंदजी सेठिया व मदनचंदजी गोठी से निवेदन किया कि वे इनसे मिलकर गलतफहमी मिटाएं। फिर आगे कोई योजना बनाई जा सकेगी।

युवक परिषद का विधिवत गठन तो बाद में हुआ था। पत्र में युवक परिषद नाम विशेष रूप से अंकित है। लगता है—युवकों ने अपनी पहचान अलग बनाने हेतु उस समय में भी युवक परिषद बना ली होगी। कहीं युवक मंडल का नाम आता है, कहीं नवयुवक मंडल का नाम आता है। स्थाई रूप में परिषद का व्यवस्थित गठन तो बाद में हुआ।

● 14/12/1953 की मीटिंग में मंत्री ने महासभा की योजना प्रस्तुत की तथा सदस्यों की राय ली। सभी सदस्यों की राय थी—महासभा आगम-वाणी, आचार्यों की वाणी का प्रचार-प्रसार, जनसंपर्क, धर्म के प्रचार के लिए सांस्कृतिक संस्थाओं के साथ संपर्क, सांस्कृतिक परिषदों के अधिवेशनों में भाग लेना तथा जैन धर्म का यथासंभव-यथाशक्ति प्रचार करती रही है, आज भी करती है, कार्यकर्ताओं के सहयोग से अर्थव्यवस्था के अनुसार वह और कार्य भी संचालित करे।

आगम-प्रकाशन का निर्णय

13/11/1955, इस मीटिंग में मदनचंदजी गोठी ने सूचित किया—आगम शोध का काम हमारे यहां शुरू हो गया है। आचार्य तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में तथा मुनिश्री नथमलजी की देख-रेख में अनुवाद का काम प्रारंभ हो गया है। महासभा को चाहिए कि वह प्रकाशन आदि का कार्य हाथ में ले, यह महत्त्वपूर्ण व ऐतिहासिक कार्य है। सदस्यों ने सर्वांगीण रूप से चिंतन कर सर्वम्मति से निर्णय किया—आगम प्रकाशन का कार्य महासभा हाथ में ले, तत्संबंधी जो भी व्यवस्था करनी हो, वह करे।

जैन भारती को बंगला व अंग्रेजी में निकालने पर भी चिंतन चला। विशेष चिंतन हेतु एक उपसमिति गठित की गई।

धार्मिक परीक्षाओं का प्रारंभ

● 25/8/1956 की मीटिंग में 'बाल तत्त्वज्ञान प्रतियोगिता' के संचालन का संपूर्ण दायित्व श्री केवलचंद नाहटा पर छोड़ा गया। भाग लेने वाले कौन हों? इस विषय पर विचार चला। मंत्रीजी ने कहा—'पढ़ने वाला कोई भी हो सकता है, अवस्था के अनुसार प्रश्न रखे जाएंगे। प्रथम, द्वितीय, तृतीय आने वाले को क्रमशः 15/11/9 रुपयों की मासिक छात्रवृत्ति दी जाएगी।

21/10/1956 को परीक्षा रखी गई। तत्त्वज्ञान की वार्षिक परीक्षा की शुरुआत महासभा द्वारा इस वर्ष से हुई। बाद में तो इसका खूब विस्तार हुआ। हजारों विद्यार्थी परीक्षा में बैठने लगे। अभी इस परीक्षा का आयोजन जैन विश्व भारती, लाडनूं से हो रहा है।

● 29/9/1956, महासभा ने मूल भवन के आगे की जमीन पर मकान बना लिया। विद्यालय के ट्रस्टियों ने इस पर महासभा की मिल्कीयत को स्वीकार कर लिया। स्कूल के ट्रस्टियों ने 23/8/1956 की मीटिंग में प्रस्ताव पास किया—'संयुक्त भवन के सामने की जमीन पर जो नया भवन बना है वह श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की अपनी अलग निधि से बना है अतः महासभा का है और मिल्कीयत भी महासभा की है। केवल जमीन दोनों संस्थाओं की संयुक्त संपत्ति है।'

● 7/10/1956 की मीटिंग में यह चिंतन चला कि युनेस्को का सम्मेलन नवंबर प्रथम सप्ताह में आयोजित

है, उसमें महासभा की क्या भूमिका हो सकती है? संपर्क की दृष्टि से साहित्य तैयार किया जाए। कुछ अंग्रेजी साहित्य पहले से है, उनमें कहीं संशोधन आदि करना हो तो छोगमलजी साहब को दिखा दिया जाए। दिल्ली के श्री मोहनलालजी कठोतिया से जानकारी की जाए कि युनेस्को का क्या प्रोग्राम है? जैन दर्शन परिषद आदि का आयोजन करने की क्या संभावनाएं हैं? आचार्यश्री का क्या प्रोग्राम है? प्रचार-प्रसार की दृष्टि से यह एक अच्छा अवसर है, इसका समुचित उपयोग किया जाए। अन्य संस्थाएं भी इस मौके पर कार्यक्रम आयोजित कर रही हैं क्या? कौन-कौन विद्वान् बाहर से आ रहे हैं, इस बारे में रमणीक भाई से पत्र-व्यवहार किया जाए।

स्कॉलरशिप का निवेदन

● 8/12/1956 की मीटिंग में महाबोधि सोसायटी से आया पत्र पढ़ा गया, जिसमें सीलोन (श्रीलंका) से आए श्री मिरिसे पन्ना सिरी थेरो को स्कॉलरशिप के लिए निवेदन था। सदस्यों का चिंतन रहा—थेरो से मंत्री मिलकर जानकारी करें। इस विषय में वैशाली इंस्टिट्यूट के बारे में तथा प्रिंसिपल डॉ. नथमल टांटिया से जो वार्तालाप हुआ, बतलाया। महासभा सांस्कृतिक अध्ययन आदि में विशेष रुचि लेनेवाली एक संस्था के रूप में प्रसिद्धि पा चुकी थी, तभी महाबोधि सोसायटी से पत्र आया था।

मीटिंग में यह भी तय किया—जैन दर्शन का कोई अध्ययन करे, उस तेरापंथी भाई को 125 रुपए की मासिक छात्रवृत्ति दी जा सकती है।

महिला विभाग को सक्रिय करने का निर्णय

● 14/9/1957, मंत्री ने यह बताया—'चाड़वास में विकास मंडल बन गया है। अभी सुजानगढ़ में महिला मंडल का गठन हुआ है। उन्होंने अनुरोध भी किया है कि महासभा के साथ संयुक्त किया जाए। महासभा में महिला विभाग है, उसके अंतर्गत उन्हें लिया जा सकता है। समय-समय पर उनसे पत्र व्यवहार करते रहना चाहिए। किसी एक विशिष्ट महिला को यह भार देने का चिंतन है।' सदस्यों ने इसका दायित्व मंत्री पर ही छोड़ दिया।

जैन विश्व भारती पर चिंतन

● 29/9/1968 की मीटिंग में बताया गया कि—महासभा के अंतर्गत जैन विश्व भारती विभाग खोलने की एक योजना आई है। इस संबंध में कन्हैयालालजी दूगड़ (सरदारशहर) से भी विस्तृत बात हुई। गांधी विद्या मंदिर को भी जैन विश्व भारती बनाया जा सकता है। हनुमानमलजी बैंगाणी ने कहा—'योजना उत्तम है, आकर्षक है, विशाल है किंतु महासभा के पास पहले से कई काम हैं। भवन निर्माण अधूरा पड़ा है, फिर यह सब भी व्ययसाध्य हैं, ऐसे में अन्य योजना को हाथ में लेना या अन्यत्र कार्यालय करना कहां तक उचित है?'

खेमचंदजी सेठिया, श्रीचंदजी रामपुरिया ने भी कहा—'योजना महत्त्वाकांक्षी है, किंतु महासभा की अन्य प्रवृत्तियां चालू रखते हुए इसे हाथ में ले सकें तो लें, वरना नहीं।' केवलचंदजी नाहटा आदि कई सदस्यों के चिंतन में यह योजना महासभा को स्थानांतरित करने की प्रक्रिया लगी। सदस्यों ने तय किया—मद्रास में वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा है, उसमें विशद रूप में विचार होगा, तब मंत्री यहां के सदस्यों का चिंतन रख देंगे।

अकाल राहत में सहयोग

● 1/11/1968 मीटिंग में मंत्री ने बताया—राजस्थान में इस बार व्यापक अकाल है। मुख्यमंत्री मोहनलालजी सुखाड़िया ने तेरापंथी समाज से भी अकाल राहत में सहायता हेतु मांग की थी। समाज के उदारमना महानुभावों के सहयोग से 30/11/1968 को 25,602 रुपए की थैली, भेंट की गई है। सदस्यों ने महासभा के स्तर पर अकाल राहत हेतु चंदा किया, उन सबको धन्यवाद दिया।

क्रमशः....

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

Fine Strokes (09866291098)

जैन भारती, सितम्बर, 2013 ■ प्रेषण दिनांक 28 अगस्त, 2013
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।